भक्तिकाव्य की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना

भक्तिकाव्य की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना

प्रेमशंकर

M

दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड
नई दिल्ली बंबई कलकत्ता मद्रास
समस्त विश्व में सहयोगी कंपनियां

प्रथम संस्करण 1979

एस जी वसानी द्वारा दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड
के लिए प्रकाशित तथा प्रेम भारती, दिल्ली-110032 में मुद्रित ।
Prem Shankar Bhaktikavya Kee Samajik Sanskritik Chetana

कवि निराला की स्मृति में
डा० रामरतन भटनागर को

निवेदनम्

हिंदी का मध्यकालीन भक्तिकाव्य महत्वपूर्ण सार्थक सृजन है और उसमे कालजयी प्रतिभाओं ने हस्ताक्षर किए हैं, पर इतिहास—समाज की जिस भूमिका पर यह रचनाशीलता उपजी है उसकी पहचान आसान नही। मध्यकाल के कई सूत्र उलझे हुए हैं और इतिहास की चुप्पी के कारण उन्हे सुलझाने मे कठिनाई होती है। पर सृजन की पीठिका से गुजरे बिना हमारा साक्षात्कार ही अधूरा होगा क्योंकि वह जमीन महत्वपूर्ण है जहा से कोई रचना अपनी यात्रा की शुरुआत करती है।

मध्यकालीन भक्तिकाव्य के चिंतनसूत्र पुरानी परपरा में लिपटे हुए हैं और कई बार उन पर ऐसी भावविह्वल दृष्टि डाली जाती है कि सचाई खुलने के बजाय और भी सगोपित हो जाया करती है। दीर्घ कालखड से गुजरता हुआ भक्ति-चिंतन अपने सामाजिक दबावो मे रूपातरित होता रहा है। इस दृष्टि से विष्णु के विकास का अध्ययन उपयोगी है क्योकि राम-कृष्ण उन्ही से जुड़े हुए है। भक्तिकाव्य लगभग चार शतको के लबे इतिहास स गुजरता है और हमे उसके दबावो को भी ध्यान म रखना होगा। इतिहास के प्रश्न कई बार चुनौती देते हैं क्योकि व्यक्तियों, घटनाओ आदि से उसका वृत्त पूरा नही होता और हम उस सामाजिक चेतना की सही पहचान करनी होगी जो एक विशेष कालखड में सक्रिय रही है। भारतीय मध्यकाल के विषय मे विद्वानो ने प्रचुर कार्य किया है और उस समय की बहुतेरी सामग्री भी उपलब्ध है, फिर भी इतिहास की कुछ मूलभूत समस्याओं को लेकर बौद्धिक टकराहट मौजूद है।

ऐसे में लबी पूर्ववर्ती चिंतनधारा और मध्यकालीन इतिहास से गुजरकर भक्तिकाव्य से साक्षात्कार करना एक चुनौती जैसा लगता है, विशेषतया राम-कृष्णकाव्य से, क्योंकि सतकाव्य अथवा निराकारी काव्य को, साकार देवत्व से जुड़े काव्य की तुलना मे अधिक सामाजिक माना जाता है और इतना ही नहीं, कई बार, दबी जबान मे ही सही, साकारियो मे किंचित अनुदार दृष्टि देखी जाती रही है। बिखरी हुई परपरा पर दृष्टि डालना, इतिहासक्रम की जटिलताओ को जानना

और इस प्रकार भूमिका की समझ के बाद भक्तिमार्गी राम-कृष्णकाव्य से साक्षात्कार करना सरल नही है। इसे मैं जानता हू तथा मुझे अपनी सीमाओ का भी एहसास है। विचारो की टकराहट के बीच किसी मध्यमार्ग की खोज भी आसान नही होती।

भक्तिचिंतन की परपरा पर कई बार धूल चढ जाने का कारण यह है कि उसे विभिन्न सप्रदायो ने खड खड करके अपने शिविरो मे बाध लेना चाहा है और उसकी चर्चा करते हुए वह सामाजिक भूमि छोड दी जाती है जिसने चिंतन को उपजाने, बदलने और रूपातरित करने में अहम भूमिका निभाई है। इसी प्रकार मध्यकालीन इतिहास को जिस नई स्थिति का सामना करना पडा, उसे लेकर कई बार विद्वान लगभग आमने सामने उपस्थित हो जाते हैं: एक वह वर्ग जो हिंदू पुनरुत्थानवाद की बात करता है और दूसरा वह जो विदेशी प्रभाव के बिना भक्तिकाव्य की कल्पना नही कर पाता। आरभ मे हिंदू-मुस्लिम टकराहट स्वाभाविक थी पर सल्तनतकाल मे भी फीरोज तुगलक जैसे अपेक्षाकृत सहनशील शासको का उल्लेख इतिहासकार करते हैं जिससे ज्ञात होता है कि उस समय भी सही समझ पैदा हो रही थी। मुगलकाल मे इस सांस्कृतिक मेल-जोल की प्रक्रिया को गति मिली और अकबर की उदार नीति ने उसे पूर्णता पर पहुचा दिया।

दोनो मुख्य जातिया लबे समय तक तनाव की मुद्रा मे मुट्ठी बाधे नही रह सकती थी और सल्तनतकाल में सतकवियो की रचनाए मेल-जोल के एहसास से उपजी हैं जिनमे दोटूक भाषा में जाति-बिरादरी, आडबर पाखड, छुआछूत आदि पर हमला किया गया है। उन्होंने सस्कृत फारसी आदि अभिजात भाषाओ के वर्चस्व को तोडा और उसके स्थान पर देसी भाषाओ को चुना, जो सामान्यजन की उपस्थिति का प्रमाण है। इसके मूल मे सिद्धो-नाथो की विद्रोही चेतना है जिसकी पीठिका पर तैरता हुआ सतकाव्य आया है तथा राम-कृष्णकाव्य भी। जनभाषाओ का उदय मध्यकालीन भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है और सामान्यजन की उस छटपटाहट का सकेत देती है जो सामती सीमाओ मे भी अभिव्यक्ति का रास्ता खोज रही थी। भक्ति आदोलन को विद्वान जनादोलन कहकर सबोधित करते है और जिस तेजी से वह देश के एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गया, उससे उसकी सामाजिकता का पता चलता है। यह भारतीय मध्यकाल की रचनाशीलता का जागरण है किसी खास बिरादरी का नही। आरभिक सतकवि सामाजिक सदाशयता से परिचालित थे और साहित्यिक ऊचाइया पाने की कोई खास हविश उनमे न थी, पर जिस निर्भीकता से उन्होंने सामान्यजन के सवेदनो का प्रतिनिधित्व किया, वह मध्यकाल की अकुलाहट बतलाती है। लगभग सभी देसी भाषाओ मे सतकवियो ने सांस्कृतिक मेल-जोल पर बल दिया और एक नई भक्तिचेतना को विकसित करना चाहा जिसमे ऐसे वैकल्पिक आराध्य की

तलाश थी, जहा सब शरणागत हो सकें . एक प्रकार से प्रपत्ति का समाजीकरण। भक्ति की नई लहर ने दक्षिण-उत्तर, पूर्व पश्चिम को अपनी लपेट मे ले लिया और रामानंद की सामाजिक प्रखरता ने हिंदी भक्तिकाव्य के लिए सभावनाओ के नए द्वार उन्मुक्त किए।

एक दशक से अधिक समय तक मध्यकालीन परिवेश और रचना को समझने की चेष्टा करता रहा हू और सपूर्ण अध्ययन को मैने दो खडो मे विभाजित किया है : भक्तिकाव्य की भूमिका और उसकी सामाजिक-सास्कृतिक चेतना। आरभ मे सामाजिक दबावो मे बदलते भक्तिचितन और इतिहास-समाज के उन सदर्भों की पहचान का प्रयत्न है जो समस्त मध्यकालीन भक्ति आदोलन की पृष्ठभूमि में मौजूद हैं। इस पीठिका की सही समझ के बाद ही काव्य के सास्कृतिक-सामाजिक तत्व खोजे जा सकते हैं।

मेरा उद्देश्य राम-कृष्णकाव्य की वकालत करना नही है, मैं तो उस सामाजिक सास्कृतिक चेतना को तलाशना चाहता हूं जो रचना के माध्यम से उजागर हुई है। प्रस्तुत पुस्तक मेरे अध्ययन का एक टुकडा है। कुछ अन्य अश सामने आ चुके हैं, जिनमे रामकाव्य के परिप्रेक्ष्य मे तुलसी और कृष्णकाव्य के परिप्रेक्ष्य में सूर की सास्कृतिक चेतना को भी तलाशा गया है। इस कोशिश में हू कि निराकारी भक्तिकाव्य के संदर्भ में कबीर, जायसी आदि की चेतना को भी देख-पहचान सकू।

मूलत आधुनिक साहित्य का विद्यार्थी रहा हू पर इतिहास के जीवित अशो से साक्षात्कार करने की विनम्र चेष्टा मैंने की है। मुझे अपनी सीमाओ का एहसास है और सकारात्मक सुझावो का स्वागत है। मेरी इस यात्रा को बहुतो ने आलोक तथा स्नेह दिया और मैं सबके प्रति सहज भाव से आभारी हू। इस क्षण मैं अपने यशस्वी आचार्य श्री नददुलारे वाजपेयी का सादर स्मरण करता हू जिन्होने मुझे अपने ढग से सोचने-समझने की पूरी आजादी दी।

यदि यह प्रयत्न अन्य सहयात्रियो को रचनाशीलता की परपरा पर नई दृष्टि डालने के लिए प्रेरित कर सका तो मैं समझूगा कि मेरा श्रम अकारथ नही गया।

जनवरी, 1979 — प्रेमशकर

सागर विश्वविद्यालय
सागर

अनुक्रम

हिंदी भक्तिकाव्य की दिशाएं

भक्तिकाव्य के मुख्य वृत्त को चौदहवीं शती से आरंभ करके सत्रहवीं शती के लगभग मध्य भाग तक ले जाया जाता है और इस प्रकार वह तीन-चार शतकों से अधिक की यात्रा करता है। इस बीच इतिहास के अनेक दबावों से उसे गुजरना पड़ता है, जिनमें कई बार तीव्र मोड़ भी आते हैं और स्वाभाविक है कि भक्तिकाव्य की धारा में थोड़े बहुत परिवर्तन होते रहे पर कुल मिलाकर उसका एक समग्र व्यक्तित्व निर्मित होता है। तेरहवीं शती का अंत और चौदहवीं शती का आरंभ— इन दोनों के संधिस्थल पर दिल्ली में खलजी शासन (1288-1321 ई०) था और उत्तर भारत में उनका असंदिग्ध प्रभुत्व। अलाउद्दीन खलजी (1295-1317 ई०) ने शासक बनने के दो वर्ष पूर्व ही 1293 ई० में एलिचपुर होते हुए देवगिरि के यादव राजा रामचंद्रदेव पर आक्रमण किया और उसे संधि करने को विवश किया। इतिहास में यह किसी मुस्लिम शासक का दक्षिण पर आधिपत्य स्थापित करने का एक जोरदार अभियान था। 1306 ई० में देवगिरि पर पुन आक्रमण करके अलाउद्दीन ने उस पर अधिकार कर लिया और इस प्रकार दक्षिण के द्वार अन्य शासकों के लिए खोल दिए। खलजियों के बाद तुगलकों ने 1321 से 1414 ई० तक शासन किया; सैयदों ने 1414 से 1450 ई० तक और लोदी वंश ने 1450 से 1526 ई० तक। बाबर ने मुगल साम्राज्य की नींव डाली और इस प्रकार सल्तनत युग को समाप्त कर दिया। 1526 से 1707 ई० तक मुगलशासन अपने सर्वोत्तम दौर से गुजरता है जिसमें बाबर, हुमायूं, अकबर, जहांगीर, शाहजहां और औरंगजेब जैसे शासक हुए। शेरशाह और सूरियों के संक्षिप्त समय (1540-1555 ई०) को छोड़कर मुगलों ने लगभग संपूर्ण देश पर अखंड राज्य किया। अलाउद्दीन खलजी (1295-1317 ई०) से लेकर लगभग जहांगीर (1605-1627 ई०) अथवा शाहजहां (1627-1658 ई०) तक का समय भक्तिकाव्य पार करता है।

सल्तनतकाल में जातियों के संबंध तनावपूर्ण थे, यद्यपि भीतर ही भीतर दोनों को निकट लाने की चेष्टाएं भी की जा रही थीं। इस बीच 1398 ई० में तैमूर का

आक्रमण हुआ जो उत्तर भारत को हिलाकर चला गया। वह इतिहास के सबसे वर्बर आक्रमणो मे था और संभव है उसने प्रमुख जातियो मे यह बोध जगाया हो कि बाहरी शत्रु से तभी निपटा जा सकता है जब राष्ट्र सगठित हो। पर राजनीतिक ऐक्य बहुत कठिन था क्योकि समाज वर्गों मे बटा था। दक्षिण मे विजयनगर जैसे शक्तिशाली राज्य थे जिसमे कृष्णदेवराय (मृत्यु 1530 ई०) जैसा प्रतापी राजा हुआ। दक्षिण मे मुस्लिम बहमनी राज्य था (1347-1527 ई०) जिसके दुर्बल होने की स्थिति मे, चौदहवी-पद्रहवी शती के सधिकाल मे दक्खन की पाच प्रमुख सल्तनतें बनी: बरार, बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुडा, बीदर। 1526 ई० से भारतीय इतिहास का नया अध्याय शुरू होता है जब पानीपत के युद्ध मे विजयी होकर बाबर ने मुगल साम्राज्य की स्थापना की। तुर्क-अफगान काल समाप्त हुआ और सभ्यता-सस्कृति का एक नया दौर शुरू हुआ। बाबर, हुमायू को अधिक समय नहीं मिला, यद्यपि बाबर का 'बाबरनामा' उसकी सुरुचिसपन्नता का और हुमायू का 'हुमायूनामा' उसकी आध्यात्मिक चेतना का परिचय देते हैं। अकबर (1556-1605 ई०) के समय मे सास्कृतिक, जातीय समन्वय को चरम विकास मिला जिसका प्रयत्न तेरहवी-चौदहवी शती मे भी हो रहा था। भक्तिकाव्य एक प्रकार से हमारी उस मध्यकालीन चेतना का प्रकाशन है जिसमें राजनीति के परिपार्श्व मे एक आध्यात्मिक स्वर भी सक्रिय था और जिसका सास्कृतिक प्रदेय हमारे अध्ययन का विषय है।

पूर्वाभास

सास्कृतिक क्षेत्र मे ऐसी उदार प्रवृत्तिया सक्रिय थी जो जातीय सौमनस्य का समर्थन कर रही थी, उसी प्रकार रचना के विभिन्न क्षेत्रो मे ऐसे समन्वयशील तत्व अपने ढग से यही प्रयत्न कर रहे थे। यदि चौदहवी शती के पूर्व उन्हे राजशक्ति का अधिक प्रश्रय मिल जाता तो सभव था कि भक्तिकाव्य को इतनी प्रतीक्षा न करनी पडती। यहा यह जान लेना आवश्यक है कि सल्तनतकाल की तीन शताब्दियो मे (1201-1500 ई०) सुल्तानो की कठोरता के बावजूद विचारणा के स्तर पर समन्वय के प्रयत्न चल रहे थे और इस सदर्भ मे प्राय मुस्लिम सूफियो का उल्लेख किया जाता है। पर इसी क्रम मे सतो की वह लबी सूची है जो मुगलो के सोलहवी शती मे शासनसूत्र सभालने के पूर्व, अपने ढंग से समाज के उन सकीर्ण तत्वो से जूझ रहे थे, जो निहित स्वार्थों के कारण जातीय सौमनस्य के पक्ष मे नही थे। इसीलिए जब हम चौदहवी शताब्दी से भक्तिकाव्य का आरभ मानते हैं तो सर्वप्रथम हमे उस रचनाशीलता पर दृष्टि डालनी चाहिए, जिसे हम हिंदी भक्तिकाव्य के मुख्य प्रवाह का पूर्वाभास कह सकते हैं। इसके पूर्व रामानुज, मध्वाचार्य, ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि भक्ति आदोलन को ऐसी सामाजिक चेतना देते हैं कि

आगे का सर्जन पूरे उत्साह से चल सके। इस सदर्भ मे चौदहवी शती के आरभ मे क्रियाशील रामानद का विशिष्ट प्रदेय है और वे हिंदी भक्तिकाव्य के महत्वपूर्ण प्रेरणास्रोत हैं।

बौद्ध प्रभाव

भक्तिकाव्य के पूर्व सिद्धो, नाथो आदि का कई शताब्दियो का समय फैला हुआ है। राहुल साकृत्यायन ने सिद्धो का समय 800 से 1200 ई० तक माना है और उनका कथन है कि सरहपाद प्रथम सिद्ध थे। सिद्धों, नाथो की परपरा की ठीक समझ हिंदी म काफी विलव से हुई। धार्मिक सप्रदायगत आधार के कारण पहले इन्हे हिंदी मे लगभग साहित्येतर माना गया और वह स्थान नही दिया गया जो किसी मुख्य आदोलन के पूर्वाभास को मिलना चाहिए। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने सिद्धो, नाथो की सामाजिक स्थिति को स्वीकारते हुए 'हिंदी साहित्य का इतिहास' म सर्वप्रथम उनके उत्स का उल्लेख किया

> बौद्धधर्म विकृत होकर वज्रयान सप्रदाय के रूप मे देश के पूरबी भागो मे बहुत दिनो से चला आ रहा था। इन बौद्ध तात्रिको के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुचा। ये बिहार से लेकर असम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। 'चौरासी सिद्ध' इन्ही मे हुए हैं जिनका परपरागत स्मरण जनता को अब तक है। इन तात्रिक योगियो को लोग अलौकिक शक्तिसपन्न समझते थे। ये अपनी सिद्धियो और विभूतियो के लिए प्रसिद्ध थे।[1]

गोरखनाथ के नाथपथ का मूल भी बौद्धो की इसी वज्रयान शाखा को स्वीकारते हुए उन्होने नाथपथियो की सास्कृतिक सौमनस्य की चेष्टा का विशेष उल्लेख किया

> गोरखनाथ की हठयोग साधना ईश्वरवाद को लेकर चली थी अत उसमे मुसलमानो के लिए भी आकर्षण था। ईश्वर से मिलानेवाला योग हिंदुओ और मुसलमानो दोनो के लिए एक सामान्य साधना के रूप मे आगे रखा जा सकता है, यह बात गोरखनाथ को दिखाई पडी थी। अत उन्होने दोनो के विद्वेषभाव को दूर करके साधना का एक सामान्य मार्ग निकालने की सभावना समझी थी और वे उसका सस्कार अपनी शिष्यपरपरा मे छोड गए थे।[2]

किंतु सास्कृतिक सौमनस्य की स्वीकृति क बावजूद आचार्य शुक्ल इसी 'अपभ्रश-काल' के विवेचन मे कहते हैं कि 'नाथ सप्रदाय म अशिक्षित श्रेणियो के ऐसे लोग आए जो शास्त्रज्ञानसपन्न न थे और जिनकी बुद्धि का विकास सामान्य कोटि का था।' अत मे उनकी निष्कर्षात्मक टिप्पणी सिद्ध-नाथ साहित्य को हिंदी साहित्य की धारा से अलगा देती है

आक्रमण हुआ जो उत्तर भारत को हिलाकर चला गया। यह इतिहास के सबसे बर्बर आक्रमणो मे था और सभव है उसने प्रमुख जातियो मे यह बोध जगाया हो कि बाहरी शत्रु से तभी निपटा जा सकता है जब राष्ट्र सगठित हो। पर राजनीतिक ऐक्य बहुत कठिन था क्योकि समाज वर्गों मे बटा था। दक्षिण मे विजयनगर जैसे शक्तिशाली राज्य थे जिसमे कृष्णदेवराय (मृत्यु 1530 ई०) जैसा प्रतापी राजा हुआ। दक्षिण मे मुस्लिम बहमनी राज्य था (1347-1527 ई०) जिसके दुर्बल होने की स्थिति मे, चौदहवी-पद्रहवी शती के सधिकाल मे दक्खन की पाच प्रमुख सल्तनतें बनी बरार, बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुडा, बीदर। *1526 ई० से* भारतीय इतिहास का नया अध्याय शुरु होता है जब पानीपत के युद्ध मे विजयी होकर बाबर ने मुगल साम्राज्य की स्थापना की। तुर्क-अफगान काल समाप्त हुआ और सभ्यता सस्कृति का एक नया दौर शुरू हुआ। बाबर, हुमायू को अधिक समय नही मिला, यद्यपि बाबर का 'बाबरनामा' उसकी सुरुचिसपन्नता का और हुमायू का 'हुमायूनामा' उसकी आध्यात्मिक चेतना का परिचय देते हैं। अकबर (1556-1605 ई०) के समय मे सास्कृतिक, जातीय समन्वय को चरम विकास मिला जिसका प्रयत्न तेरहवी-चौदहवी शती मे भी हो रहा था। भक्तिकाव्य एक प्रकार से हमारी उस मध्यकालीन चेतना का प्रकाशन है जिसमे राजनीति के परिपार्श्व मे एक आध्यात्मिक स्वर भी सक्रिय था और जिसका सास्कृतिक प्रदेय हमारे अध्ययन का विषय है।

पूर्वाभास

सास्कृतिक क्षेत्र में ऐसी उदार प्रवृत्तिया सक्रिय थी जो जातीय सौमनस्य का समर्थन कर रही थी, उसी प्रकार रचना के विभिन्न क्षेत्रो मे ऐसे समन्वयशील तत्व अपने ढग से यही प्रयत्न कर रहे थे। यदि चौदहवी शती के पूर्व उन्हे राजशक्ति का अधिक प्रश्रय मिल जाता तो सभव था कि भक्तिकाव्य को इतनी प्रतीक्षा न करनी पडती। यहा यह जान लेना आवश्यक है कि सल्तनतकाल की तीन शताब्दियो म (1201-1500 ई०) सुल्तानो की कठोरता के बावजूद विचारणा के स्तर पर समन्वय के प्रयत्न चल रहे थे और इस सदर्भ मे प्राय मुस्लिम सूफियो का उल्लेख किया जाता है। पर इसी क्रम मे सतो की वह लबी सूची है जो मुगलो के सोलहवी शती म शासनसूत्र सभालने के पूर्व, अपने ढग से समाज के उन सकीर्ण तत्वो से जूझ रहे थे, *जो निहित स्वार्थों के कारण जातीय सौमनस्य के पक्ष मे नही* थे। इसीलिए जब हम चौदहवी शताब्दी से भक्तिकाव्य का आरभ मानते हैं तो सर्वप्रथम हमे उस रचनाशीलता पर दृष्टि डालनी चाहिए, जिसे हम हिंदी भक्तिकाव्य के मुख्य प्रवाह का पूर्वाभास कह सकते है। इसके पूर्व रामानुज, मध्वाचार्य, ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि भक्ति आदोलन को ऐसी सामाजिक चेतना देते हैं कि

आगे का सर्जन पूरे उत्साह से चल सके। इस सदर्भ मे चौदहवी शती के आरभ मे क्रियाशील रामानद का विशिष्ट प्रदेय है और वे हिंदी भक्तिकाव्य के महत्वपूर्ण प्रेरणास्रोत हैं।

बौद्ध प्रभाव

भक्तिकाव्य के पूर्व सिद्धो, नाथो आदि का कई शताब्दियो का समय फैला हुआ है। राहुल साकृत्यायन ने सिद्धो का समय 800 से 1200 ई० तक माना है और उनका कथन है कि सरहपाद प्रथम सिद्ध थे। सिद्धो, नाथो की परपरा की ठीक समझ हिंदी म काफी विलव से हुई। धार्मिक सप्रदायगत आधार के कारण पहले इन्हे हिंदी मे लगभग साहित्येतर माना गया और वह स्थान नही दिया गया जो किसी मुख्य आदोलन के पूर्वाभास को मिलना चाहिए। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने सिद्धो, नाथो की सामाजिक स्थिति को स्वीकारते हुए 'हिंदी साहित्य का इतिहास' मे सर्वप्रथम उनके उत्स का उल्लेख किया

> बौद्धधर्म विकृत होकर वज्रयान सप्रदाय के रूप म देश के पूरबी भागो में बहुत दिनो से चला आ रहा था। इन बौद्ध तान्त्रिको के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुचा। ये बिहार से लेकर असम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे। 'चौरासी सिद्ध' इन्ही मे हुए हैं जिनका परपरागत स्मरण जनता को अब तक है। इन तात्रिक योगियो को लोग अलौकिक शक्तिसपन्न समझते थे। ये अपनी सिद्धियो और विभूतियो के लिए प्रसिद्ध थे।[1]

गोरखनाथ के नाथपथ का मूल भी बौद्धो की इसी वज्रयान शाखा को स्वीकारते हुए उन्होंने नाथपथियो की सास्कृतिक सौमनस्य की चेष्टा का विशेष उल्लेख किया

> गोरखनाथ की हठयोग साधना ईश्वरवाद को लेकर चली थी अत उसमे मुसलमानो के लिए भी आकर्षण था। ईश्वर से मिलानेवाला योग हिंदुओ और मुसलमानो दोनो के लिए एक सामान्य साधना के रूप म आगे रखा जा सकता है, यह बात गोरखनाथ को दिखाई पडी थी। अत उन्होने दोनो के विद्वेषभाव को दूर करके साधना का एक सामान्य मार्ग निकालने की सभावना समझी थी और वे उसका सस्कार अपनी शिष्यपरपरा मे छोड गए थे।[2]

किंतु सास्कृतिक सौमनस्य की स्वीकृति के बावजूद आचार्य शुक्ल इसी 'अपभ्रश-काल' के विवेचन म कहते हैं कि नाथ सप्रदाय म अशिक्षित श्रेणियो के ऐसे लोग आए जो शास्त्रज्ञानसपन्न न थे और जिनकी बुद्धि का विकास सामान्य कोटि का था।[3] अत मे उनकी निष्कर्षात्मक टिप्पणी सिद्ध नाथ साहित्य को हिंदी साहित्य की धारा से अलगा देती है

> सिद्धो और योगियो का इतना वर्णन करके इस बात की ओर ध्यान दिलाना हम आवश्यक समझते है कि उनकी रचनाए तात्विक विधान, योगसाधना, आत्मनिग्रह, श्वासनिरोध, भीतरी चक्रो और नाडियो की स्थिति, अतर्मुख साधना के महत्व इत्यादि की साप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, जीवन की स्वाभाविक अनुभूतियो और दशाओ से उनका कोई सबध नही। अत वे शुद्ध साहित्य के अतर्गत नही आती।[3]

बगाल मे तत्र, सिद्ध, योग आदि से सबद्ध रचनाकारो के मूल्याकन की दिशा मे विद्वानो ने परिश्रम किया (जैसे आचार्य क्षितिमोहन सेन आदि ने) और हिंदी मे महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज, महापडित राहुल साकृत्यायन, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि ने वह पृष्ठभूमि निर्मित की कि उसे सही परिप्रेक्ष्य मे देखा जा सके। आचार्य द्विवेदी ने कई ग्रथो—'नाथ सप्रदाय', 'हिंदी साहित्य की भूमिका', 'कबीर' आदि के द्वारा सिद्धो, नाथो की रचनाओ को हिंदी साहित्य की मूल धारा से जोडा और उसे भक्तिकाव्य की प्रशस्त पृष्ठभूमि के रूप मे विवेचित किया।

भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि मे सिद्धो-नाथो की रचनाए उपस्थित हैं, इसे प्राय अब सभी विद्वान स्वीकारते हैं, पर प्राय यह प्रभाव निराकारोपासना का समर्थन करनेवाले कवियो तक सीमित कर दिया जाता है। माना कि कबीर आदि कवियो पर सिद्धो, नाथो का प्रभाव बहुत सीधा तथा स्पष्ट है और उनकी दोटूक भाषा के कारण वह सहज ही पकड मे भी आ जाता है पर भक्तिकाव्य के परिवेश को प्रभावित करने मे इन फक्कड सिद्धो-नाथो की भूमिका है, चाहे वह प्रतिक्रिया रूप मे क्यो न हो। स्वय सिद्ध-नाथ साहित्य के उत्स की ओर दृष्टि डालने से कुछ तथ्य सामने आते हैं। बुद्धदेव के निधन की चार सदिया बीतते बीतते बौद्धधर्म लडखडाने लगा और उसमे अनेक विकृतिया प्रवेश कर गई। उसकी महायान शाखा का उदय यो तो तीसरी शती ई० पू० मे हो चुका था, पर दक्षिण के नागार्जुन ने दूसरी शती मे उसे व्यवस्थित रूप दिया। आचार्य नरेंद्रदेव का विचार है कि वह युगप्रवर्तक विद्वान थे जिन्होने 'माध्यमिक कारिका' के द्वारा शून्यवाद तथा प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रतिपादन किया और जनता पर व्यापक प्रभाव डाला।[4] बुद्धदेव ने यद्यपि एक ही यान अथवा मार्ग-मध्यम मार्ग-को स्वीकृति दी थी, पर आगे चलकर कई 'यान' बने जिनमे महायान, हीनयान आगे भी चले। महायान चौथी ई० शती मे विशेष प्रबल हुआ और आठवी शती तक उसका विकास चलता रहा। इसमे बुद्ध की भक्ति का भी आग्रह किया गया और इस प्रकार उस साकार तत्व को प्रश्रय मिला, जिसे स्वय बुद्धदेव ने अस्वीकारा था। विद्वानो का मत है 'महायान मे पूजा, वदना, शरण-गमन, पाप देशना, पुण्यानुमोदना, अध्येषणा अथवा प्रार्थना, याचना, बोधिचित्तोत्पाद और बोधिपरिणा-

मना—ये नौ प्रकार की पूजाएं मानी गई है। इसी मे भक्ति पूर्ण होती है।'[5] भागवत मे नवधा भक्ति की कल्पना की गई, यह प्रश्न विचारणीय है। इतना अवश्य है कि बौद्धधर्म की महायान शाखा मे भक्ति का तत्व किसी न किसी रूप मे सक्रिय था जो एक क्रातिकारी दर्शन की नियति की सूचना है।

बौद्धधर्म की दूसरी महत्वपूर्ण शाखा (वज्रयान) भी दक्षिण मे पनपी और उसके मूल मे तत्र-मत्र, योग-सिद्धि आदि की प्रवृत्तिया सक्रिय थी तथा आरभ से उस पर तात्रिकता का दबाव था। बौद्ध सिद्धो की अपभ्रश रचनाओ का उल्लेख करते हुए डा० रामसिंह तोमर ने चौरासी सिद्धो के मूल मे वज्रयानी तात्रिक प्रेरणा को स्वीकारा है।[6] बौद्धधर्म की दोनो मुख्य शाखाओ मे महायान स्वय को 'लोकहित' का पक्षधर मानता है और इसीलिए जनता मे उसे मान्यता मिली। वज्रयान योग, तत्र-मत्र आदि से जुड़ा था इसलिए उसमें नियति के क्षण जल्दी आ गए। विद्वानो की यह टिप्पणी उचित ही है कि 'तात्रिक प्रवृत्तियो से ही वज्रयान का उदय हुआ है और ये वज्रयानी घोर तात्रिकता मे पडकर बुद्ध की मूल शिक्षाओ से प्राय दूर जा पडे। ये अपने को अनुत्तर सिद्धि तथा सहज भाव का ज्ञानी समझने लगे।' इस सदर्भ मे महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज का भी विचार है कि कामकला तक का उपयोग सिद्धि के लिए किया गया और उसे तार्किक स्तर पर औचित्य देने की चेष्टा की गई। पर गलत हाथो मे पडकर गुह्यविद्या अथवा तत्रसाधना का कितना दुरुपयोग हुआ, इसका प्रमाण चिंतन के इतिहास मे प्राप्त होता है। विद्वान वज्रयान का अतिम रूप सहजयान को मानते हैं और उनका विचार है कि दोनो मे अधिक अतर नही है। इस सदर्भ म आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत प्रामाणिक है कि मत-तत्र के मूल सिद्धात को सतो ने पकडकर उसे सहज प्रेम का रूप दिया और बहुत सहज भाषा मे उसे लोकग्राह्य बनाया।[7] सभी विद्वान स्वीकारते हैं कि बौद्धधर्म ने महायान, वज्रयान के माध्यम से हिंदी की भक्तिधारा को प्रभावित किया है। स्थिति यह है कि महायान, वज्रयान, तत्र, सहजसाधना, सिद्ध, नाथ, सत मे भक्तिकाव्य का एक क्रम मध्यकालीन चितनधारा म दिखाई देता है।

सिद्ध साहित्य

जैसा कि सकेत किया जा चुका है पर्याप्त समय तक सिद्धो, नाथो के विषय मे सामग्री उपलब्ध नही थी और प्राय उन्हे साहित्येतर समझकर रचना की मूल धारा से अलग रखा जाता था। लेकिन अब स्वीकार किया जा चुका है कि 800-1100 ई० के मध्य सिद्ध सत सक्रिय थे और उन्होने भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि का कार्य किया। सिद्धो की सख्या चौरासी मानी गई और सूची से ज्ञात होता है कि यद्यपि इसमे हर वर्ग के व्यक्ति थे, पर धोबी, लोहार, कहार, दरजी, डोम,

मछुआ, चर्मकार आदि पिछडे वर्गों की सख्या अधिक थी। हिंदी काव्यधारा मे राहुल साकृत्यायन ने इनकी रचनाओ की बानगी दी है। इसके अनुसार प्रथम सिद्ध सरहपाद थे, यद्यपि सूची का आरभ उन्होंने लुइपा से किया है और सरहपा का नाम छठे स्थान पर है। विभिन्न वर्णों के सिद्ध प्रमाणित करते हैं कि धर्म का प्रचार लोकभूमि पर अधिकाधिक बढ रहा था और उसम निम्न वर्ग के व्यक्ति सम्मिलित हो रहे थे, यहा तक कि स्त्रिया भी। धर्मवीर भारती ने 'सिद्ध साहित्य' नामक अपने शोधप्रबध म सिद्धो की सामान्य विशेषताओ की चर्चा करते हुए लिखा है कि वे सभी तात्रिक थे धर्मनिदक—यहा तक कि बौद्धो के भी। वे सहज भावना के प्रचारक थे और तत्र से सिद्धि म उनकी आस्था थी। उन्होंने गुरु-माहात्म्य को माना और लोकभाषा म अपने मत का प्रचार किया।[8]

प्राय सिद्धो का सबध वज्रयान शाखा से जोडा जाता है और 'वज्रयानगर्भित सहजयान से सिद्धो का प्रादुर्भाव' माना जाता है। पर वज्रयान का उदय तात्रिक प्रवृत्तियो से हुआ था और उनका लोकपक्ष अथवा सामाजिक पक्ष बहुत सचेत नहीं था जबकि सिद्धो का स्वर अधिक विद्रोही और प्रखर है। वे वाममार्गी प्रवृत्तियो को इस सीमा तक स्वीकार नही करते कि साहित्य यौनाश्रित हो जाए। सिद्धो की सामाजिक चेतना जागरूक है और उन्हें यह एहसास है कि उनकी रचना को सीधे सामान्यजन तक भी पहुचना है। विद्वानो का विचार उचित है . 'लोकमर्यादा, पाखड, बाह्याचार और पुस्तकीय ज्ञान के प्रति जो विद्रोह भीतर ही भीतर कसमसा रहा था, वह इन सहजयानी सिद्धो की रचना मे बहिर्गत हुआ। यह आदोलन धर्म के स्थिर स्वार्थवालो के प्रति विद्रोह था, इसलिए इसका रूप बहुत लोकप्रिय हुआ।'[9] इस प्रकार सिद्धो ने बौद्ध वामाचारी तात्रिक गुह्यसाधना के स्थान पर जनता को अपनी रचनाओ के माध्यम से एक नया स्वस्थ विकल्प दिया। वज्रयानी तत्र और हठयोग को स्वीकारते हुए भी उन्होंने एक स्वतत्र जीवनदर्शन की नियोजना की जिसम सदाचार को प्रमुखता दी—इसीलिए उसमे सयम, अनुशासन पर जोर दिया गया। मेरा विचार है कि परवर्ती संतकवियो को सिद्धो की उस प्रखरता ने सबसे अधिक प्रभावित किया, जिसम उन्होंने रूढियो, जर्जर मान्यताओ, अधविश्वासो को चुनौती दी। वे 'सिद्धि' को चमत्कार, तिलस्म नही मानते, वरन साधना को ही सिद्धि स्वीकारते हैं।

सिद्धो का सामाजिक आशय

सिद्धो ने प्रचलित धार्मिक रूढियो, अधविश्वासो पर तीखे आक्रमण किए, शैव, शाक्त हिंदू, जैन, यहा तक कि बौद्धो पर भी। विद्वानो ने इसे रेखाकित किया है। इससे ज्ञात होता है कि वे अपने सामाजिक, सास्कृतिक परिवेश से कितना असतुष्ट थे और एक नई साधना विकसित करना चाहते थे। सरहपा कहते हैं

ब्राह्मण रहस्य को नही जानते। वे बेकार ही वेदपाठ किया करते हैं—माटी, जल, कुशा लेकर मत्रोपचार करते हैं और घर मे बैठकर धुए से अपनी आखो को कष्ट देते हैं। भगवावेशी ये परमहस जनता को उपदेश देते हैं और औचित्य-अनौचित्य म अतर न जानते हुए भी ज्ञानी का दभ पालते हैं। शैव शरीर पर भस्म लपेटते हैं, सिर पर जटा-जूट हैं और दीप जलाकर घटा बजाते हैं आदि आदि।[10]

स्पष्ट है कि सिद्धो मे अपने समय की धार्मिक, सास्कृतिक स्थिति के प्रति तीव्र वितृष्णा का भाव है और वे तार्किक भाषा का प्रयोग करते हुए आक्रमण को प्रभावशाली बनाते हैं। उन्होंने कई स्तरो पर अपना कार्य किया। सर्वप्रथम अध-विश्वास से घिरे हुए तत्ववाद के स्थान पर 'योग' को स्वीकृति दी और उसे अध्यात्म से जोडा। गुह्यविद्या को उन्होंने आध्यात्मिक प्रतीको से सपन्न किया और 'गुरु' की महत्ता पर बल दिया। सरहपा का कथन है कि शरीर ही सर्वोपरि तीर्थ है

एत्थु सें सुरसरि जमुणा, एत्थ सें गगासाअरु।
एत्थु पआग बणारसि, एत्थु से चद दिवाअरु॥
सेतु पीठ उपपीठ, एत्थु मइ भमइ परिट्ठवो।
देहा सरिसअ तित्थ, मइ, सुह अण्ण ण दिट्ठवो॥[11]

सिद्धो ने वाम मार्ग को एक प्रकार से नया जीवन दिया क्योंकि वह अधेरी गलियो मे भटक गया था। वे ऐसी दोटूक भाषा का प्रयोग करते हैं कि सामान्यजन उसे ग्रहण कर सकें। डा० रामकुमार वर्मा का कथन है कि सिद्धो की भाषा जनसमुदाय की भाषा का आश्रय लेकर अपभ्रश की उस अवस्था का सकेत करती है जिसम आधुनिक भाषा के चिह्न विकसित होने लगे थे।[12] मेरा विचार है कि सिद्ध एक ओर सामाजिक आक्रोश से परिचालित थे, दूसरी ओर उनकी आध्यात्मिक चेतना भी सक्रिय थी। उनकी जिस भाषा को 'सध्या भाषा' कहा जाता है और विद्वानो ने जिसकी भिन्न भिन्न व्याख्याए की हैं, उससे लोकभाषाओ का पथ प्रशस्त हुआ, इसम सदेह नही। सिद्धो ने अपनी साधना को सहज मार्ग बताया और रचना को पाडित्य से मुक्ति दिलाने का कार्य किया। उनमे कई प्रकार के साधक थे, पर उन्होंने सास्कृतिक पृष्ठभूमि निर्मित करने मे पहल की जिससे आगे आनेवाली साधनाओ का मार्ग सरल हो गया। हमारे प्रयोजन के लिए उसकी सास्कृतिक चेष्टा अधिक महत्वपूर्ण है। सिद्धो की विद्रोहशीलता समाज मे एक नया उन्मेष लाना चाहती है।

आगे आनेवाली रचनाओ को सिद्धो की तीखी, पैनी बातो ने निश्चित प्रभावित किया। जनभाषा की ठेठ शब्दावली ने पाडित्यपूर्ण, अभिजात भाषा के एकाधिपत्य को समाप्त किया और क्षेत्रीय भाषाओ का मार्ग प्रशस्त किया। योग

की ऐकांतिक साधना को ऐसी आध्यात्मिकता से सबद्ध किया गया जिसमे सामाजिक सदर्भ थे। इसम रहस्यवादी प्रवृत्तियो का जो बीजारोपण हुआ उसका आगे चलकर विकास हुआ। सिद्धो की मान्यता है कि कोरे ज्ञान और पाडित्य से मुक्ति नही प्राप्त हो सकती, इसीलिए उन्होने अनुभूति पर बल दिया। इसे उन्होने ग्राह्य बनाया और इसे सहज ज्ञान कहा। कर्मकाड तथा व्यर्थ के आडबर 'महासुख' की प्राप्ति के लिए अनावश्यक हैं, मुक्ति का देश चेतना के भीतर है। यह साधना का आभ्यतरीकरण है। सिद्ध साहित्य मे सच्चे गुरु का बहुत महत्व है क्योकि वही पथप्रदर्शन करता है। गुरु के बिना ज्ञान कैसे होगा ? सरहपा ने गुरु के उपदेश को अमृत के समान माना है और कहा कि शास्त्र की मरुभूमि मे भटकने से कोई लाभ नही :

गुरु-उवएसें अमिअ-रसु धाव ण पीअउ जेहि।
बहु सत्यत्थ मरुत्थलहि, तिसिए मरिअउ तेहि।।[13]

सिद्धो ने एक ऐसे रचनात्मक परिवेश का निर्माण करने मे पहल की, जिस पर आगे चलकर अधिक प्रशस्त रचनाए आ सकी। इस सदर्भ मे विद्वानो की टिप्पणी है कि 'चिंतन, साधना, मत्र, देवता, तत्र, योग, आचार, भाषा और जीवनदर्शन इतना सर्वग्राही कभी नही रहा, जितना सिद्धकाल मे।' भक्तिकाव्य पर सिद्धो का प्रभाव स्पष्ट है और वह उसकी पृष्ठभूमि मे मौजूद है।

नाथपथ

सिद्धो से नाथपथ का उदय कहा जाता है और आचार्य द्विवेदी स्वीकारते हैं कि 'सबसे आदि मे नव मूलनाथ हुए हैं जिन्होने सप्रदाय का प्रवर्तन किया था।' नाथपथियो के विषय म विद्वान कई प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए पाए जाते हैं। राहुल साकृत्यायन नाथ सप्रदाय को चौरासी सिद्धो से निकला हुआ एक क्रातिकारी पथ कहते हैं। आचार्य द्विवेदी ने स्वीकारा है कि नाथ सप्रदाय को सिद्धमत भी कहा जाता है और इसके ग्रथो को 'सिद्धातग्रथ'। डा० पीताबरदत्त बडथ्वाल सिद्धो को भी विचारधारा मे नाथपथी मानते हैं। सिद्धों ने अपने नाम के साथ 'नाथ' शब्द का प्रयोग किया जिससे ज्ञात होता है कि इन दोनो मे समान भूमि भी है। विद्वान सिद्ध सप्रदाय की तरह नाथपथ का सबध भी बौद्धमत से स्वीकारते हैं और उनका विचार है कि बौद्धो की आचारसहिता को उन्होने प्रश्रय दिया। इसीलिए नाथ सप्रदाय को हिंदुओ, बौद्धो का एक तात्रिक सप्रदाय तक कह दिया जाता है और उसम शैव साधना का प्रभाव देखा जाता है। स्थिति यह प्रतीत होती है कि नाथ सप्रदाय जिस रूप म हमे उपलब्ध है, उसमे तात्रिक बौद्धसाधना, शैवसाधना, शाक्त आदि का विचित्र समन्वय हो गया है।

नाथ सप्रदाय को सगठित करने का कार्य गोरखनाथ ने किया जिनके विषय मे

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं :

> गोरखनाथ का जिस समय आविर्भाव हुआ, वह काल भारतीय धर्मसाधना के लिए एक उथल-पुथल का काल था। मुसलमानों का प्रवेश भारत में हो गया था, बौद्धसाधना क्रमश. टोने-टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी, यद्यपि ब्राह्मणधर्म अपना प्राधान्य स्थापित कर चुका था, तथापि बौद्धों, शाक्तों और शैवों का एक भारी सम्प्रदाय ऐसा था जो ब्राह्मण सम्प्रदाय के प्राधान्य को स्वीकार नहीं करता था। उनमें से कतिपय उपसम्प्रदायों ने अपने को वेदसम्मत सिद्ध करने के लिए जीतोड़ प्रयत्न किया। गोरखनाथ ने बहुत सभव है अपने योगसप्रदाय के अतर्गत इन्हें अतर्भुक्त करने का प्रयत्न भी किया हो क्योकि उन सबमें विचारसाम्य पर्याप्त मिलता है।[14]

गोरखनाथ ने विभिन्न साधनाओं के समन्वय का कार्य किया और परपरित हठ-योग पर बल दिया तथा निश्चित ही वे उसकी गहराई में गए। विद्वानों ने इसका पर्याप्त विवेचन किया है और उसके विस्तार में जाए बिना हम उसकी प्रमुख विशेषताओं का सकेत करना चाहेंगे। डा० नागेंद्रनाथ उपाध्याय नाथ-तत्व को मोक्षदाता, नादब्रह्म का अनुबोधी तथा अज्ञान का स्थगनकर्ता कहते हैं।[15]

सिद्धों, नाथों मे कतिपय समानताएं होते हुए भी प्राय. उनमे पार्थक्य किया जाता है। सिद्ध बौद्ध तात्रिक बज्रयानी परपरा से सबद्ध हैं, जिन्होंने अपभ्रंश दोहों तथा चर्यापदों मे रचना की। नाथपंथ योगमार्ग से अधिक सबद्ध है और उस पर शैव प्रभाव भी है। गोरखनाथ द्वारा योगस्वीकृति के सदर्भ मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है :

> उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धातों के आधार पर बहुधाविस्रस्त कायायोग के साधनों को व्यवस्थित किया है, आत्मानुभूति और शैवपरपरा के सामंजस्य से चक्रों की सख्या नियत की, उन दिनों अत्यत प्रचलित बज्र-यानी साधना के पारिभाषिक शब्दों के सास्कृतिक अर्थ को बलपूर्वक पारमार्थिक रूप दिया और अब्राह्मण उद्‌गम से उद्‌भूत और सपूर्ण ब्राह्मण-विरोधी साधनामार्ग को इस प्रकार संस्कृत किया कि उसका रूढ़िविरोधी रूप ज्यों का त्यों बना रहा, परतु उसकी अशिक्षाजन्य प्रभावपूर्ण रूढ़ियां परिष्कृत हो गई।[16]

नाथपथ, वास्तव मे बौद्ध तात्रिक साधना बज्रयान, शैव-शाक्तमत, योग आदि को सम्मिलित करके अग्रसर हुआ, इसीलिए उसका स्वरूप विचित्र लगता है। लेकिन इस समन्वय के मूल मे नाथपंथियों की उदार सास्कृतिक चेतना कार्य कर रही थी, इसमे सदेह नहीं।

'नाथ सप्रदाय' सिद्धों की तरह अपने साथ निम्नवर्ग को लेकर चला और अनेक छोटी जातियों पर उसका प्रभाव था। जार्ज वेस्टन ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक

'गोरखनाथ ऐंड दि कनफटा योगीज' में जो सूचनाएं दी हैं, उससे इसकी पुष्टि होती है। गोरखनाथ के बारह पंथ का उल्लेख आचार्य परशुराम चतुर्वेदी आदि विद्वानों ने किया है और इससे ज्ञात होता है कि नाथपंथियों का प्रभावक्षेत्र काफी विस्तृत था। उनके प्रतीकजगत की विशेष चर्चा की जाती है। विचित्र वेशभूषा—यहां तक कि फटे हुए कान—एक प्रकार के इंद्रियनिग्रह, आत्मानुशासन का संकेत करते हैं। ब्रिग्स के अनुसार 'मस्तक पर त्रिपुंड का चिह्न, हाथ में खप्पर, धूपदान, त्रिशूल, कंधे पर झोली, इधर-उधर भटकते ये जादू-टोना, चमत्कार दिखाते थे।'[17] संभवत: यह टिप्पणी साधारण नाथपंथियों के विषय में की गई है पर उनमें जो प्रसिद्ध नाथ हुए हैं : आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ, गाहिणीनाथ, चर्पटनाथ, चौरंगीनाथ, ज्वालेंद्रनाथ, भर्तृनाथ, गोपीचंदनाथ। इनके अतिरिक्त भी लंबी सूची है तथा नवनाथों के नाम भी भिन्न भिन्न प्रकार से मिलते हैं। इनमें मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ, जालंधरपाद आदि की विशेष प्रसिद्धि है।

नाथ संप्रदाय में योग की इतनी चर्चा का प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि इससे इंद्रियनिग्रह में सहायता मिलती है। भौतिकवादी विचारकों ने स्वीकारा है कि तंत्र में भी इसके आग्रह हैं।[18] वासनाओं में इधर-उधर भटकती हुई इंद्रियां योग साधना द्वारा वश में आती हैं। मन बाहर से भीतर की ओर देखता है तो चेतना क्रमश: ऊर्ध्वमुखी होती है। शरीर का एक दुर्ग कहकर संबोधित किया गया, जिस पर विजय पाना आवश्यक है, तभी वास्तविक ज्ञान की उपलब्धि हो सकती है : 'कायागढ़ भीतर देव देहुरा कासी, सहज सुभाइ मिलै अविनासी।' हठयोग एक प्रकार से शरीर को संयमित करने का प्रयत्न है। इंद्रियों का स्वामी मन अज्ञान, वासना के कारण चंचल है और वह बाहर की ओर भटकता है, पर सुख तो भीतर है, इसलिए मन को अंतर्मुखी कराना होगा—योग साधना के द्वारा। नाथपंथियों ने कहा है कि शरीर के नवद्वार बंद कर लेने पर चेतना ब्रह्मरंध्र तक पहुंचती है, जहां अनहदनाद सुनाई देता है।[19]

इंद्रियनिग्रह का मूल प्रयोजन ब्रह्म से साक्षात्कार है और वही महासुख है, ब्रह्मानंद है। यद्यपि इसके प्रमाण मिलते हैं कि अनेक गृहस्थ नाथ संप्रदाय में दीक्षित थे, पर मुख्यतया इनकी दृष्टि निवृत्तिमार्गी है। इसीलिए गोरखनाथ ने हठयोग के साधनापक्ष का आग्रह किया, जिसकी प्रक्रिया काफी संश्लिष्ट है और इसके लिए एक समर्थ गुरु की आवश्यकता होती है। सच्चा गुरु विवेकशील होता है, दृष्टि देता है, वह एक प्रकार से जीव को ब्रह्म के निकट ले जाने का साधन है। आगे भी गुरु की महिमा को उन सभी साधना पद्धतियों में स्वीकारा गया जहां आध्यात्मिकता, रहस्यवाद आदि के प्रसंग हैं। जिस योगमार्ग को नाथ संप्रदाय में स्वीकृति मिली, 'गुरु' उसका एक अनिवार्य अंग है : 'गुरु बिन ज्ञान न पायना।'[20] गुरु एक प्रकार का आलोकदाता है जो अंधकार में भटकती आत्मा

को राह दिखाता है, पथ प्रशस्त करता है। परवर्ती संतो ने गुरु, गोविंद में गुरु को अधिक स्वीकृति दी।

सांस्कृतिक प्रयोजन

नाथपंथ अपने सामाजिक आशय में सिद्धों के समान है—जातिवाद, वर्णव्यवस्था, बाह्याडंबर, अंधविश्वास आदि पर तीखा आक्रमण। यहां आचारसंहिता का सर्वाधिक आग्रह किया गया और आचरण की शुद्धता को सर्वोपरि माना गया। तांत्रिक बौद्धधर्म की गलत व्याख्याओं के कारण जो वामाचार फैल रहा था, उसके विरोध में आतरिक साधना का प्रचार किया गया। सिद्धों की तुलना में नाथपंथियों की प्रवृत्ति कम खंडनात्मक दिखाई देती है, उसका प्रमुख कारण उनका योगमार्ग से संबद्ध होना है जिससे वे अधिकाधिक रचनात्मक हो सकें। कई बार नाथपंथी साधक वैयक्तिक साधना और लोकपक्ष को साथ लेकर चलते दिखाई देते हैं। वैयक्तिक जीवन में उन्होंने संयम नियम पर बल दिया जिसमें परंपरित योग साधना का उपयोग किया गया। विद्वानों ने इसे पतंजलि के योग-शास्त्र से संबद्ध करके देखा है। पर नाथपंथ का सामाजिक-सांस्कृतिक पक्ष अधिक लोकोन्मुख है और वह अपने समय की उपज है। उनका वैयक्तिक साधनावाला पक्ष शास्त्रीय है, इसलिए जनसामान्य ने उसमें रुचि नहीं ली, पर जहां तक उनकी सामाजिक चेतना का प्रश्न है उन्होंने समाज को प्रभावित किया। इस कार्य में सामान्यजन की भाषा ने उनकी बड़ी सहायता की और लोक भाषाओं के लिए मार्ग प्रशस्त हुआ। आचार्य शुक्ल ने स्वीकार किया है

> नाथपंथ के उपदेशों का प्रभाव हिंदुओं के अतिरिक्त मुसलमानों पर भी प्रारंभकाल में ही पड़ा। बहुत से मुसलमान, निम्न श्रेणी के ही सही, नाथपंथ में आए। अब भी इस प्रदेश में बहुत से मुसलमान जोगी गेरुआ वस्त्र पहने, गुदड़ी की लंबी झोली लटकाए, सारंगी बजा बजाकर 'कलि में अमर राजा भरथरी' के गीत गाते फिरते हैं और पूछने पर गोरखनाथ को अपना आदि-गुरु बताते हैं।[21]

सिद्धों नाथों के दो प्रमुख पक्ष उभरते हैं एक है उनका साधनापक्ष जो तंत्र, योग से उपजा है और जिसे तांत्रिक साधना की देन कहना चाहिए। पर तंत्र-मंत्र की वैयक्तिक साधना से अधिक उपादेय उनका सामाजिक, लोकजीवन का पक्ष है जिसने भक्तिकाव्य, विशेषतया संतो को बहुत प्रेरणा दी। सिद्धों, नाथों ने भक्ति के स्थान पर ज्ञान को मुक्ति का उपाय माना और इसीलिए उनकी भाषा तार्किक है और संतो को प्रभावित कर सकी। आचार्य द्विवेदी ने तो कबीर को लगभग सीधे ही नाथपंथ से संबद्ध करके देखा। उनका विचार है

> इस विषय में कोई संदेह नहीं कि उन दिनों नाथमतावलंबी गृहस्थ योगियों

को एक बहुत बडी जाति थी जो न हिंदू थी और न मुसलमान।...बनारस के अलईपुरा के जुलाहे अपने को 'गिरस्त' (गृहस्थ) कहते हैं। यह शब्द बताता है कि कोई अगृहस्थ या योगी जुलाहा जाति भी रही होगी। बगाल की युगी जाति इसी सप्रदायमूलक जाति का भग्नावशेष है। कई बातें ऐसी हैं जो यह सोचने को प्रवृत्त करती हैं कि कबीरदास जिस जुलाहावश म पालित हुए थे वह इसी प्रकार के नाथमतावलबी गृहस्थ योगियो का मुसलमानी रूप था।'[2]

सिद्धो, नाथो ने एक ओर ब्राह्मणधर्म को चुनौती दी और भक्ति के क्षेत्र मे उच्च वर्णों की वपौती को अस्वीकार कर दिया, जो कार्य दक्षिण मे इसके पूर्व ही चुका था, दूसरी ओर उन्होंने अनेक जर्जर मान्यताओ पर प्रहार किया। देखने मे उनका व्यक्तित्व इस दृष्टि से द्विधात्मक लग सकता है कि एक ओर वे एकात साधना का पक्ष लेते हैं, दूसरी ओर वे समाज के प्रति भी सचेत हैं, पर साधना पक्ष उन्हे उत्तराधिकार म मिला और सामाजिकता इतिहास के दवावो मे उपजी वस्तु है। इसीलिए उनके साधनापरक और रहस्यवाद को उतनी स्वीकृति नहीं मिली जितनी कि उनकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति को। जिसे हिंदी का सतकाव्य कहा जाता है, उसके मूल मे सिद्धो, नाथों की प्रवृत्तिया मौजूद हैं, इसे सभी ने स्वीकारा है। धीरे धीरे आरभिक तात्विक प्रभाव कम होते गए, सतकाव्य अधिक सामाजिक भूमि का सस्पर्श कर सका और भक्तिकाव्य के निर्माण मे उसकी सक्रिय भूमिका है।

सतकाव्य

आठवी-नवी शती से लेकर तेरहवी शती तक की स्थिति यह है कि एक ओर वीरगाथात्मक प्रवृत्तिया सक्रिय है, दूसरी ओर योगपरक, साधनामूलक रचनाए। डा० नामवरसिंह ने सभवत इसीलिए इसे 'अतर्विरोधो का युग' कहकर सबोधित किया है।[23] साधनापरक साहित्य ने मध्यकालीन भक्तिकाव्य के लिए एक प्रकार से वह भूमि निर्मित की जिस पर अधिक समर्थ रचनाए सर्जित हो सकें। प्राय सिद्धो-नाथो के प्रभाव को निर्गुनिया सतकाव्य मे खोजने की चेष्टा की जाती है। हम स्वीकारते हैं कि निराकारोपासना से सबद्ध कवियो पर यह प्रभाव बहुत स्पष्ट है, पर परोक्ष रूप से तो लगभग समस्त भक्तिकाव्य को उसका ऋण स्वीकारना होगा। सिद्धो नाथो ने ज्ञान का आग्रह करते हुए समाज मे एक नए वातावरण को जन्म दिया जिससे भक्ति के लिए राह बन सकी। एक ऐसे परिवेश को जन्माने का श्रेय इन्ही फक्कड़ो को है, जिसमे आगे चलकर श्रेष्ठ रचनाए रची जा सकी। सत परपरा निराकारोपासना या निर्गुण मत को मानती है पर केवल ज्ञान को ही प्रश्रय नही देती और इस प्रकार भक्ति को सहज ही स्वीकारती है।

जिसे हिंदी का सत साहित्य कहा जाता है और जिसमे प्राय. कबीर आदि को सम्मिलित किया जाता है, वह भक्तिकाव्य का एक अग है, पर उसकी पूर्वपीठिका सिद्धो-नाथो द्वारा निर्मित हुई। 'सत' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ मे होता आया है—सच्चरित्र, वीतराग, ईश्वरोन्मुख आदि। प्रो० आर० डी० रानाडे का विचार है कि 'सत' विट्ठल सप्रदाय का एक लगभग शास्त्रीय शब्द है, जिसमे वारकरी सप्रदाय के अनुयायी सर्वोत्तम सत होते हैं।[24] इनमे सत ज्ञानेश्वर, सत नामदेव, युगप्रवर्तक एकनाथ, सतशिरोमणि तुकाराम आदि की गणना होती है। इस सबध मे प्रो० देशपाडे का वक्तव्य विचारणीय है

> पाच श्रेष्ठ सतो (ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास) के कथनानुसार सत, साधु, भक्त, सज्जन और सिद्ध समान अर्थवाची शब्द हैं। जो व्यक्ति आस्तिक, सदाचारी, परोपकारी, निस्स्वार्थी और भगवद्भक्ति मे रत है वह सत है, चाहे वह सगुणोपासक हो या निर्गुणोपासक। सत का साधना भेद से कोई लगाव नही होता। महाराष्ट्र के सत भगवान के सगुण और निर्गुण दोनो रूप मानते थे तथा दोनो की समान श्रद्धा से उपासना भी करते थे। सगुण या निर्गुण मे भेद या विरोध का अनुभव करना तो दूर रहा, उनमे उन्हें सामजस्य की अनुभूति होती थी। एक ही उपासक मुमुक्षु और साधक अवस्थाओ मे परमेश्वर के सगुण रूप की उपासना करता है और सिद्धावस्था में नामस्मरण या योग द्वारा निर्गुण ब्रह्म की प्रत्यक्ष अनुभूति करता है। महाराष्ट्र के सत निर्गुण को सगुण के आगे की सीढी मानते हैं। भक्ति दोनो मे सामान्य है, उनको जोडनेवाली कडी है। महाराष्ट्र के सत आत्मसाक्षात्कारी होते हुए भी लोकसग्रह की दृष्टि से सगुण के उपासक थे।··· महाराष्ट्र मे भक्ति की निर्गुण और सगुण ऐसी दो भिन्न धाराए प्रवाहित न हो सकीं। इसलिए वहा सत और भक्त मे कोई भेद देखने मे नही आया। इसके अतिरिक्त वारकरियो को सत कहने की प्रथा भी महाराष्ट्र मे चल पडी थी। पर सत शब्द की व्यापकता सदा अविकल रही। फलतः यहा सतकाव्य और भक्तिकाव्य मे कोई अतर नही माना जाता।[25]

किंतु हिंदी मे प्राय निर्गुणमार्गी ऐसे कवियो को सतकाव्य मे परिगणित किया जाता है जो निराकार ब्रह्म का प्रचार करते हैं।

निराकारोपासना मे आस्था रखनेवाले कवियो को सतमत मे रखते हुए विद्वान उसके सूत्रो की खोज पूर्ववर्ती साधना पद्धतियो मे करते हैं, जैसे कबीर को रामानद की परपरा से सबद्ध करना। आचार्य द्विवेदी का कथन है कि 'जिसे हम आजकल सत साहित्य कहने लगे हैं, वह वस्तुत निर्गुण भक्तिमार्ग का साहित्य है।' आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने पूर्वकालीन सतों मे जयदेव ('गीतगोविंद' के रचयिता; सभवत. 12वी-13वी शती), सधना, लालदेव, वेणी, नामदेव,

त्रिलोचन आदि का उल्लेख किया है। उन्होंने संत साहित्य के अंतर्गत अनेक निर्गुणिया पंथों पर विचार किया है और कबीर, रैदास, गुरु नानक, दादू आदि को प्रमुखता दी है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिसे हम संत साहित्य कहते हैं, उसकी पूर्ववर्ती चिंतन परंपरा है जिसमें सिद्ध, नाथ, सूफी आदि प्रभाव भी मौजूद हैं। संतकाव्य की सही समझ के लिए पूर्ववर्ती साधना पद्धतियों की पहचान आवश्यक है क्योंकि वहीं उसका उत्स मौजूद है।

संतकाव्य और सामान्यजन

संत साहित्य सिद्धों-नाथों की विद्रोही चेतना से जुड़ा हुआ है पर उसमें सूफियों जैसी रागात्मकता भी सम्मिलित हो गई है। ये संतकवि प्राय समाज के निम्न-वर्ग से आए थे और उन्होंने उस वेदाचार और प्रचलित ब्राह्मणधर्म को चुनौती दी जो समाज की धार्मिक चेतना का नियमन करता आया था। अहीर, चमार, नाई, जुलाहा, मोची, शूद्र सभी इसमें सम्मिलित थे और इनके माध्यम से छोटी जातियों के विद्रोह को देखा जा सकता है। संतमत का विकास ऐतिहासिक दबावों में हुआ और यह निर्विवाद है कि सांस्कृतिक तथा जातीय सौमनस्य का कार्य सबसे अधिक इन संतकवियों द्वारा संपन्न हुआ। साधारण कुल में जन्मे इन निर्गुणिया कवियों में गहन आत्मविश्वास था और उन्होंने निर्भय होकर सामाजिक रूढ़ियों पर आक्रमण किए। संतमत के निर्माण के विषय में आचार्य द्विवेदी के विचार उचित हैं कि मुसलमानों के आने पर भारतीय वर्णाश्रम व्यवस्था को एक नई चुनौती का सामना करना पड़ा। इस्लाम में हर व्यक्ति और जाति के लिए जगह थी और इसीलिए धर्मच्युत छोटी छोटी जातियों-उपजातियों में भी जैसे एक नया विश्वास जागा। उन उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अंतर बताने के क्रम में वह कहते हैं

> इन दो धाराओं का अद्भुत मिलन ही निर्गुण धारा का वह साहित्य है जिसमें एक ओर कभी न झुकनेवाला अक्खड़पन है और दूसरी तरफ घर फूंक मस्तीवाला फक्कड़पन। यह साहित्य अपने आप में स्वतंत्र नहीं है। नाथमार्ग की मध्यस्थता में इसमें सहजयान और वज्रयान की तथा शैव और तंत्रमत की अनेक साधनाएं और चिंताएं आ गई हैं तथा दक्षिण के भक्तिप्रचारक आचार्यों की शिक्षा के द्वारा वेदांतिक और अन्य शास्त्रीय चिंताएं भी।[26]

संतों ने ज्ञान की अपेक्षा जिस सहज अनुभव का आग्रह किया, वह उनकी सामाजिक चेतना से उपजा है और आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इसे स्वीकारा है।[27]

स्थिति यह है कि संतमत एक ऐसी मिलनभूमि पर अवस्थित है जहां जातियों का पार्थक्य समाप्त हो जाता है। शास्त्र के स्थान पर इन्होंने अनुभूति का सहारा लिया और सहज, अकृत्रिम ढंग से अपनी बातें कहीं, इसलिए जनता इनकी ओर

आकृष्ट हुई। इन्हें हम छोटी जातियो का मसीहा भी कह सकते हैं। हिंदू, मुस्लिम सभी सतमत से प्रभावित हुए, इसका कारण इस धारा की समन्वयशीलता है पर इसमें विद्रोही सामाजिक चेतना भी सक्रिय है। जो विद्वान सतो की रचनाओं को उच्च कोटि की नहीं मानते वे भी उसकी समन्वय दृष्टि को स्वीकारते हैं 'दोनो धर्मों के मेल से एक नवीन पथ का प्रचार हुआ जो सतमत के नाम से पुकारा गया। हिंदूधर्म की वे बातें जो इस्लाम को असह्य थी, सतमत मे नही हैं। मुसलमानी धर्म की वे बातें जो हिंदूधर्म से मिलती-जुलती हैं, सतमत में हैं।' सतकाव्य मे शास्त्रीय ज्ञान के स्थान पर आत्मानुभूति का आग्रह है और य कवि स्वय पर विश्वास रखकर आगे बढे। उनके पास पडिताई का अहकार नही था, इसलिए उन्होंने सहजानुभूति पर बल दिया और कहा 'ईश्वर भीतर बसता है, उसे बाहर खोजना व्यर्थ है।' वे उस कर्मकाडी व्यवस्था के विरोध मे अपना स्वर उठाते हैं जिसके सहारे पुरोहितवर्ग का उदय हुआ। उनका आशय सपूर्ण मूर्तिभजन नही था, पर वे जानते थे कि अवतारो की ओट मे जनता को छला जा रहा है। निश्चित ही मध्यकाल मे यह एक शात ढग से चलनेवाली क्राति थी। सतो ने पुरोहितो, पडितो के स्थान पर सच्चे गुरु का आवाहन किया जो राह दिखाएगा, विवेक तक पहुंचाएगा ·

सफल जनमु मोकउ गुरि कीना। दुख विसारि सुख अतरि लीना।।
गिआन अजनु मोकउ गुरि दीना। राम नाम बिनु जीवनु हीना।।[28]

सतो के प्रभाव मे अनेक पथ निर्मित हुए। 'उत्तरी भारत की सत परपरा' मे इनकी एक सूची उपलब्ध है नानकपथ, कबीरपथ, दादूपथ, बावरीपथ, निरजनीमत, मलूकपथ, बाबालाली सप्रदाय, धामी सप्रदाय, सत्तनामी, धरनीश्वरी सप्रदाय, दरियादासी सप्रदाय, दरियापथ, शिवनारायणी, चरणदासी सप्रदाय, गरीबपथ, पानपपथ, रामसनेही सप्रदाय आदि। इन विभिन्न पथो के बावजूद सतो की पूर्ववर्ती पीढी ने भक्तिकाव्य को एक अधिक उदार पृष्ठभूमि दी, जिस पर कबीर जैसे व्यक्तित्व बन-ढल सके। सतो का मुख्य प्रयोजन या तो अपनी साधना का प्रचार है अथवा सामाजिक सुधार जैसा, काव्यकौशल मे उनकी रुचि कम है। इसीलिए साहित्य के इतिहासकारो, समीक्षको ने उनकी ओर विशेष ध्यान नही दिया। सामती व्यवस्था और पडितवर्ग ने उनकी निर्भीकता के कारण उन्ह अस्पृश्य सा समझा। पर बौद्धतत्र को जो नया उत्कर्ष सिद्धो, नाथों ने दिया था, वह सत साहित्य मे आकर पूर्ण रचनात्मक हो गया और उसकी प्रवृत्ति केवल खडनात्मक, नकारात्मक न रह गई। जनसमाज की भाषा ग्रहण करके उन्होंने अपना सामाजिक आशय सामान्यजन तक पहुचाना चाहा। सास्कृतिक समन्वय के वे प्रथम पुरस्कर्ता हैं और इसीलिए विद्वानो ने उनकी प्रगतिशील दृष्टि की सराहा है। उन्होंने जातीय सौमनस्य को ध्यान मे रखकर 'एक ही अलख निरजन' का

प्रचार किया और उसे भीतर खोजने का आग्रह किया। आगे चलकर जब सतो की सप्रदाय और पथप्रियता बढने लगी तब विद्रोह की भूमि से उठनेवाला मत साहित्य लडखडा गया। पर उदार भक्तिपथ प्रशस्त करने मे सतकाव्य की भूमिका असदिग्ध है और उनकी भक्तिपरक प्रेमभावना विचारणीय है। सतो ने एक नए सामाजिक परिवेश का निर्माण किया और भक्तिकाव्य को सही दिशा दी।

साकार-निराकार की स्थिति

लगभग चार शताब्दियो मे फैले हुए भक्तिकाव्य की अनेक दिशाएं हैं। उसमे उपासना के अलग अलग आग्रह हैं और कही कही उनका समन्वित रूप भी। अवतारो के रूप मे राम, कृष्ण को लेकर काव्यधाराए प्रवाहित हुई जिन्हे केंद्र मे रखकर भक्ति सप्रदायो का निर्माण भी हुआ। भावक्षेत्र और विचारणा के वैविध्य के साथ साथ भाषा और शिल्प की भी अनेक छविया भक्तिकाव्य मे प्राप्त होती है। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने सुविधा के लिए भक्तिकाव्य का विभाजन किसी सीमा तक वैचारिक आधार पर किया। उन्होने निर्गुण सगुण के दो मुख्य भेद किए और उपभेदो के रूप मे निर्गुण की ज्ञानाश्रयी तथा प्रेममार्गी (सूफी) शाखाए बनाईं और सगुण काव्य म राम, कृष्ण की भक्ति शाखाओ को रखा। भक्तिकाव्य की कुछ 'फुटकल रचनाओं' का भी उन्होने समावेश किया। पर 'भक्तिकाल मे शुद्ध भक्ति साहित्य ही लिखा गया हो, ऐसा नही है। धार्मिक साहित्य की भी क्षीण धारा इस काल मे चली आ रही थी जो नीतिपरक काव्य के सृजन का कारण बनी।'[9] ऊपर ऊपर देखने पर निर्गुण-सगुण मे वैचारिक टकराहट दिखाई देती है और सूर के 'भ्रमरगीत' को दृष्टात के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। लेकिन मात्र नकारात्मक दृष्टि तथा खडनात्मक पद्धति रचना शीलता को कुठित करती है, इसीलिए सूर ने तर्क दिया कि 'सब विधि अगम विचारै तातै, सूर सगुन लीलापद गावै।' इसी प्रकार कबीर ने निर्गुणमार्ग को अपनाया, ज्ञान का आश्रय लिया, पर उनका काव्य भक्तिभावशून्य नही है। वह स्वय को 'राम की बहुरिया' कहकर भगवद्भक्ति को स्वीकारते हैं। साकार-निराकार का सघर्ष रचना के क्षेत्र मे वैसा सीमाती नही जैसा कि कई बार विचारणा के स्तर पर प्रचारित किया जाता है। बल्कि प्राय उनकी समन्वित स्थिति दिखाई देती है। हम कह आए हैं कि मराठी सतो मे तो यह भेद है ही नही। हिंदी मे राम, कृष्ण का सबध साकारोपासना से स्थापित किया जाता है, पर निराकारोपासको ने भी इन अवतारो का नाम लिया है। विद्वान सगुण, निर्गुण दोनो को आगम से निसृत मानते हैं।[10]

निराकार उपासना को स्वीकारने के मूल मे मुख्यतया अवतार से उपजनेवाले सामाजिक दोष हैं। देवी-देवताओ को केंद्र मे रखकर जो धार्मिक व्यूह रच दिया

गया था, उससे समाज मे एक विशिष्ट वर्ग बन गया था और पौरोहित्य का प्राधान्य था। शूद्रो तथा निम्नवर्गों के लिए देवालयो तक पहुच पाना सभव न था और उच्चवर्गों ने धर्मक्षेत्र म एक प्रकार का एकाधिकार पा लिया था। निराकारोपासक कवियो की ज्ञानमार्गी शाखा ने ज्ञान से ब्रह्म को प्राप्त करने की बात तो की पर यह प्रमाणित करना कठिन है कि भक्ति मे उनकी रुचि नही है। स्थिति यह है कि वे ज्ञान अथवा प्रेम से ईश्वरभक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं और उनकी दृष्टि अद्वैतवादी, एकेश्वरवादी है। मलूकदास कहते हैं: 'दस अवतार कहा ते आए किन रे गढ करतार', पर निर्गुणमार्गी भक्तिरहित शुष्क ज्ञान को प्रश्रय नही देते। रागात्मक दृष्टि के लिए आध्यात्मिक मिलन का रूपक देखना अधिक उपयोगी होगा, जिसम आत्मा ब्रह्म को पाने के लिए पीडा से गुजरती है और जब मिलन होता है तब अतींद्रिय आनद की अनुभूति।

कबीर का कथन है

मिलना कठिन है कैसे, मिलौंगी प्रिय जाय।
समझि सोचि पग धरौं जतन से बार बार डिग जाय।
ऊची गैल रहि रपटीली, पाव नही ठहराय॥
लोकलाज कुल की मरजादा देखन मन सकुचाय।
नैहर बास बसौं पीहर मे, लाज तजी नहिं जाय॥
अधरभूमि जह महल पिया का, हम पै चढ्यौ न जाय।
धन भई बारी पुरुष भये भोला, सुरत झकोरा खाय॥
दूती सतगुरु मिले बीच मे, दीन्हो भेद बताय।
साहब कबीर पिया सो भेंट्यो, सीतल कठ लगाय॥[31]

निर्गुणकाव्य की शब्दावली मे सिद्ध, नाथ, सत, सूफी सप्रदाय के अनेक शब्द आ गए हैं सुरति निरति, सहज, खसम, सबद, निरजन, शून्य, महासुख, उन्मन, अवधूत आदि। योगमार्ग और सूफियो का तो एक पूरा का पूरा शब्दजगत ही यहा प्रवेश कर गया है। वैचारिक अतर होते हुए भी भक्ति की रागात्मकता मे सगुण, निर्गुण लगभग समान गतव्य पर पहुचना चाहते हैं—केवल माध्यम अलग अलग हैं। आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकता है कि साकारोपासना मे सामान्यजन को माध्यम की उपस्थिति के कारण सुविधा होती है, जबकि सर्वहारा निर्गुनिया कवियो ने 'ब्रह्म' के निराकार रूप का समर्थन किया। जैसा कि सकेत किया जा चुका है, इसके कारण सामाजिक अधिक हैं और अवतारवाद के कारण उपजनेवाली विसगतियो की प्रतिक्रिया से उपजे दिखाई देते है। हिंदू मुस्लिम दोनो जातियो को इसीलिए निराकारोपासना ग्राह्य हो सकी क्योकि देवत्व, अवतार आदि को लेकर चलनेवाले सघर्षों के लिए यहा स्थान नही है। दादू का कहना है

अलह राम छूटा भ्रम मोरा।
हिंदू तुरक भेद कछु नाही, देखौं दरसन तोरा ॥[32]

भक्तिकाव्य के समन्वित स्वरूप का प्रतिफलन सूफी मुसलमान कवियो मे हुआ जिन्होने अरब-फारस के उदार सूफीपथ का लगभग भारतीय सस्करण प्रस्तुत किया। विद्वानो ने जहा एक ओर कबीर आदि पर सूफी तन्मयता की छाया देखी है, वही उन्होने सूफियो पर भी भारतीय चिंतन का प्रभाव पाया है। 'सूफीमत ज्ञान और भक्ति का मध्यम मार्ग है जिसमे निर्गुणोपासना का प्राधान्य है। ध्यानपूर्वक देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि इस निर्गुणोपासना मे सगुणोपासना भी अनुस्यूत है। भारतीय भक्तिसाधना पद्धति ने उस पर अपना भी गहरा रग चढा दिया है। योगियो, सिद्धो ने भी उस सूफीमत पर अपनी गहरी छाप लगा दी है।'[33] योगमार्गी क्रियाश्रित नीरस रहस्यवाद को निर्गुणमार्गी कवियो ने काव्यात्मक रूप प्रदान किया जो निश्चित ही अधिक रचनात्मक भी है। हिंदी प्रेमाख्यान परपरा मे तो उनका विशिष्ट योगदान सभी ने स्वीकारा है और इनकी परपरा उत्तर-दक्षिण दोनो म प्राप्त है।

इस प्रकार भक्तिकाव्य का एक समन्वित रूप उभरता है जिसमे तत्कालीन राजनीति का योगदान है जो आरभिक सघर्षों के अनतर स्थिरता की ओर बढ रही थी। सल्तनतकाल के अंतिम दौर मे हिंदू-मुस्लिम जातिया सह अस्तित्व का पाठ सीख चुकी थी और राजसमर्थन के बिना भी मेलजोल बढ रहा था। सयोग मे समाज का सामतीवर्ग नगरो तक केंद्रित था और इसीलिए ग्रामसमाज अपेक्षाकृत कम आदोलित था तथा उसम तनाव भी अधिक नही थे। भक्तिकाव्य लोकजीवन की ओर ध्यान लगाए हुए है और लोकभाषा म उसने स्वय को व्यक्त किया है। 'यह सिद्धात कि ईश्वर के सामने सभी मनुष्य—फिर वे ऊची जाति के हो अथवा नीची जाति के—समान हैं, इस आदोलन का ऐसा केंद्रबिंदु बन गया जिसने पुरोहितवर्ग और जातिप्रथा के आतक के विरुद्ध सघर्ष करनेवाली आम जनता के व्यापक हिस्सो को अपने चारो ओर एकजुट किया। इस प्रकार मध्ययुग के इस महान आदोलन ने न केवल विभिन्न भाषाओ और विभिन्न धर्मोंवाले जनसमुदायो की एक सुसबद्ध भारतीय सस्कृति के विकास मे मदद दी, बल्कि सामती दमन और उत्पीडन के विरुद्ध सयुक्त सघर्ष चलाने का मार्ग भी प्रशस्त किया।'[34] हिंदी भक्तिकाव्य मे लोकपक्ष और शास्त्रीयता, परपरित देवत्व और विद्रोह के सम्मिलित स्वर दिखाई देते हैं पर उसका व्यक्तित्व स्वतत्र और दायित्वपूर्ण है।

निराकार की भक्ति

साहित्य के इतिहास मे निराकार की उपासना का प्रचार करनेवाला कविवर्ग कुछ पहले सक्रिय हुआ, इसका एक कारण यह है कि सिद्ध, नाथ, संतमत से वह लगभग

सीधे जुडा, यद्यपि उसका स्वर नया है। राजनीतिक मच पर सामती सल्तनतकाल की धार्मिक असहिष्णुता थी, जिसमे आतक से शासन करने की आदत पड चुकी थी। लेकिन स्वय ये सुल्तान भय के परिवेश मे जीते थे क्योकि एक ओर उन्हे अपने ही राज्य की आतरिक कशमकश का सामना करना पडता था, दूसरी ओर देशभर मे अनेक स्वतत्र राज्य थे। बाबर के आने तक सुदृढ केंद्रीय शासन की व्यवस्था नही हो सकी थी, यद्यपि सुल्तानो ने प्रयत्न अवश्य किया था। मुहम्मद बिन तुगलक सल्तनतकाल म एक अपवाद के रूप मे जाना जाता है जिसने थोडी उदारता का परिचय दिया। उसने हिंदुओ का उपयोग अपने शासन में किया और उलमाओ की शक्ति कम की। पर फीरोज फिर उसी कठोर नीति पर लौट आया। धार्मिक क्षेत्र म अनेक सप्रदाय तथा मतमतातर उपज रहे थे और खड खड होते भारतीय धार्मिक आदोलनो का उदय हुआ जो भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि बनाते हैं। दक्षिण के चतु सप्रदाय—रामानुज, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, निंबार्क—उत्तर म भी भक्तिचेतना उपजाते हैं और रामानद, वल्लभ आदि संप्रदायो को प्रेरित करते हैं।

ईश्वर की निराकार रूप म कल्पना करनेवाले निर्गुणमार्गी कवियो की बानी प्रहारात्मक है और वे मूर्तिपूजन, जातिव्यवस्था, पाखड, कर्मकाड आदि पर पूरे वेग से आक्रमण करते है, पर उनकी रचनाओ का वैचारिक आधार है जिस सिद्धो-नाथो म देखा जा सकता है। ईश्वर एक है, फिर सघर्ष के लिए अवसर कहा ? राम और अल्लाह एक हैं, उन्हे बाहर खोजना व्यर्थ है, वे तो अत करण मे व्याप्त हैं 'कस्तूरी कुडलि बसै, मृग ढूढै वन माहि। ऐसे घट घट राम हैं, दुनिया देखै नाहि।' निर्गुणमार्गी कवि पूर्ववर्ती आचार्यों की तरह दार्शनिक वाद-विवाद मे नही उलझे, वे अपने सहज अनुभव के सहारे आगे बढे। इसीलिए एक ओर वे अद्वैतवादी ढग से ब्रह्म-जीव के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं दूसरी ओर वे क्षण क्षण म ब्रह्म की अनुभूति करते हैं। निराकारोपासना के भक्तकवियो म सबसे अधिक आग्रह अनुभव-ज्ञान पर है। स्थिति तो यह है कि वे निराकार-साकार द्वद्व के बाहर निकल जाते हैं। धरमदास इस दार्शनिक विवाद की ओर सकेत करते हुए कहते हैं कि मेरे स्वामी, मुझे 'सत पुरुष के देश म ले चलो

साहेबा कौन देस मोहि डारा।
यह तो देस अमर हसन को, मेहि जग काल पसारा।।
देवहु सब्द अमर हसन को, को बहुरिन ह्वै अवतारा।
निरगुन, सगुन दुद पसारा, परि गए काल की धारा।।
जहा देस है सत पुरुष का, अजर अमी का अहारा।
धरमदास विनती कर जोरी, अबकी अरज हमारा।।'[5]

ब्रह्म वर्णनातीत है, उसकी अनुभूति होती है, पर व्यक्त कर पाना असभव। जब

तक जीव भ्रम में डूबा रहता है, ब्रह्म से तादात्म्य नहीं हो पाता। श्रेष्ठ गुरु से विवेक पाकर जीव ब्रह्म की ओर अग्रसर होता है। पर निर्गुनियों का निराकार ब्रह्म सर्वसमर्थ है, सर्वव्यापी, उसके प्रति कवियों की दृष्टि सकारात्मक है तभी वे उससे आध्यात्मिक संबंध की कामना करते हैं। ब्रह्म की स्वीकृति निर्गुणमत में वेदांतियों के निकट है जो ब्रह्म को 'शुद्ध चेतन' मानते हैं। अविद्यालिप्त माया जीव और ब्रह्म के मार्ग में बाधा है, इसीलिए निर्गुणपंथी बार बार कहते हैं 'माया से बचो'। पलटूदास का कथन है :

माया हमें अब जनि बगदाओ, तुम तो ठगिनि जग बौराओ।
देवन के घर भयउ अपसरा, जोगी के घर चेली।
सुर नर मुनि तो सबही खायो, होइ अलमस्त अकेली॥[36]

कबीर 'माया महा ठगनि हम जानी' की बातें करते हैं। पर यहां शांकर-वेदांत के मायावाद का अनुमोदन नहीं है। कर्मप्रधान जीवन के निषेध का आग्रह निर्गुनियों ने नहीं किया, अन्यथा वे वैराग्य-सन्यास की चर्चा करके रह जाते। गृहस्थ होकर भी ब्रह्म के प्रति अर्पित हुआ जा सकता है—यह उनका लोकपक्ष है। डा० बड़थ्वाल इनके ब्रह्म को प्रचलित बहुदेववाद के विरोध में एकेश्वरवाद का प्रतीक मानते हैं।[37] स्थिति यह है कि निर्गुणमार्गी अपनी दार्शनिक प्रेरणा में वेदांत तथा उपनिषद से जुड़े हुए हैं, पर अपनी बातें सहज, सीधी भाषा में करते हैं। इसलिए पंडिताई का बोझ वे नहीं ढोते। उपनिषद में ब्रह्म को 'आकाररहित पूर्ण पुरुष' कहा गया है—विकाररहित, विशुद्ध, इंद्रियहीन—फिर भी सर्वशक्तिमान।[38]

उपनिषदों में ब्रह्म की विराटता का बोध अनेक प्रकार से कराया गया है और बार बार यह दुहराया गया है कि वह परमपुरुष सर्वोपरि है—निर्मल, विशुद्ध, सर्वव्यापी।[39] कठोपनिषद में नचिकेता जिस 'आत्मतत्व' का रहस्य जानना चाहता है, उसके बारे में यमराज कहते हैं कि यह अत्यंत सूक्ष्म विषय है। वह ब्रह्म को निश्छल भाव से स्थित मानते हुए कहते हैं कि बुद्धिमान विभु के सच्चे स्वरूप को जानकर शोकयुक्त नहीं होते हैं।[40] इसी क्रम में उनका कथन है कि यह आत्म न प्रवचन से मिलता है न बुद्धि से, न श्रवण से। वह जिसके लिए अपने यथार्थ रूप को व्यक्त कर दे, उसी को उनकी उपलब्धि होती है। आत्मा परमात्मा, जीव-ब्रह्म के संबंधों पर विस्तार से विचार करते हुए उपनिषद 'आत्मसाक्षात्कार' को ब्रह्मप्राप्ति का उपाय स्वीकारते हैं। यह एक प्रकार से जीव की ब्रह्म से तादात्म्य की स्थिति है जिससे आनंद की सृष्टि होती है। अविद्या, विकार तथा माया जीव-ब्रह्म के मिलन में बाधा है, उनसे मुक्त होकर विकाररहित बनना चाहिए।

निर्गुणमार्गी कवि ब्रह्म की निराकार स्थिति, आत्मतत्व की प्राप्ति, ब्रह्म-जीव का ऐक्य, आत्मशुद्धि आदि का आग्रह करते हैं। पर यह केवल तर्क और ज्ञान के स्तर पर नहीं है, इसे विद्वानों ने भावाश्रित अद्वैत दर्शन कहा है और इसी

मे निराकारोपासना की भक्तिचेतना सन्निहित है। यदि निर्गुणमार्गी कवि दार्शनिकों की तरह केवल ब्रह्म की व्याख्या करके रह जाते तो वे तर्कशास्त्री होते, पर उन्होने विवेक, ज्ञान को अनुभूति के धरातल पर पाया था, अन्यथा काव्यसपत्ति वह न बन पाता।

निर्गुणमार्गी कवियो की भक्तिचेतना की पहचान कठिनाई से होती है क्योंकि वे अवतार, देववाद के लगभग विरोध मे जाते दिखाई देते है। सगुणमार्गी साकारोपासना के कवियो को सुविधा थी क्योकि उन्होने राम, कृष्ण को मुख्य रूप से स्वीकार कर लिया था और उनके व्यक्तित्व के चारों ओर एक कथानक निर्मित कर सकते थे। निर्गुणमार्गी परमतत्व, ब्रह्म, जीव, माया, सृष्टि आदि की चर्चा करते हैं पर उनका मूल गतव्य 'ब्रह्मप्राप्ति' है। इसके लिए उन्होने एक ऐसा विलक्षण और विपुल शब्दभाडार निर्मित कर लिया कि उसके गूढ रहस्य तक पहुच पाना आसान नहीं। ब्रह्म के लिए ही वे अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं निरगुण, निराकार, अलखनिरजन, करता, करतार, त्रिगुणरहित, विमल, अकाल, पुरुषोत्तम, विश्वभर और यहा तक की अवतारी नाम भी जैसे विष्णु, कमलापति, हरिनारायण, रघुनाथ, राम आदि। इन समस्त सबोधनो के बावजूद परमतत्व ज्ञानातीत है, उसे केवल अनुभव मे पाया जा सकता है और यही भक्ति का तत्व है।

ब्रह्म के साकार-निराकार अथवा सगुण-निर्गुण रूप को लेकर प्राय एक वैचारिक सघर्ष उपस्थित करने की चेष्टा की जाती है, पर वास्तव मे स्थिति यह है कि निर्गुणमार्गी ब्रह्म के निराकार रूप को मानते है जबकि सगुणमार्गी उनके अवतार रूप के सहारे चलते हैं। एक की आचारसहिता देव को आदर्श रूप मे चित्रित कर निर्मित होती है जबकि निर्गुणोपासक ध्यान, मनन आदि का अधिक सहारा लेते हैं। निराकारोपासना का मार्ग निश्चित ही कठिन है, इसलिए उसमे इतने हस्ताक्षर न हो सके जितने साकारोपासना मे किंतु निर्गुणमार्गियो का पथ अपेक्षाकृत जोखिमभरा है। एक ओर वे सास्कृतिक आशय से परिचालित है और उनमे जागृत सामाजिक चेतना है इसलिए वे समाज की बुराइयो पर तीखे आक्रमण करते है, दूसरी ओर आत्मसाक्षात्कार की बात करते हुए वे ब्रह्म से तादात्म्य भी रखना चाहते हैं।

कबीर

मध्यकालीन भक्तिकाव्य मे कबीर एक प्रखर व्यक्तित्व के रूप मे आते हैं और सतकाव्य परपरा मे उनका विशिष्ट स्थान है। नाथपथियों और योगमार्गियो की जो परपरा आदिनाथ, मत्स्येंद्रनाथ, गोरखनाथ आदि से चली आ रही थी, उसे कबीर ने काव्यसपत्ति बनाकर प्रस्तुत किया। उनमे एक ओर योगमार्गी-

रहस्यवादी पद मिलते हैं जिनमे प्रतीको के सहारे गहन आध्यात्मिक आशय की व्यजना की गई है तो दूसरी ओर सामाजिक यथार्थ के ऐसे जुझारू स्वर हैं जहा वह आक्रोशी मुद्रा मे आ जाते हैं और तीखे आक्रमण करते हैं।

कबीर की जीवनरेखाए विवाद का विषय हैं और उनके प्रखर व्यक्तित्व के चारो ओर कई प्रकार की किवदतिया प्रचारित की जाती रही हैं, जैसे उनके शव को लेकर सघर्ष हुआ —हिंदू दाहसस्कार करना चाहते थे और मुसलमान उसे दफनाना। जब शव पर पडा हुआ कफन उठाया गया तो वहा केवल कुछ फूल बिखरे हुए थे, शव का कही पता न था। कबीर की जीवनी के कतिपय सूत्र उनकी रचनाओ म प्राप्त होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि वह 'जुलाहा' जाति के थे और उनका पालन-पोषण नीरू और नीमा नाम के जुलाहा दपति के द्वारा हुआ था। इस सदर्भ मे एक प्रचलित प्रवाद है जिसका उल्लेख आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास मे भी किया है 'कहते हैं काशी म स्वामी रामानद का एक भक्त ब्राह्मण था जिसकी विधवा कन्या को स्वामीजी ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद भूल से दे दिया। फल यह हुआ कि उसे एक बालक उत्पन्न हुआ जिसे वह लहरतारा के पास फेंक आई। अली या नीरू नाम का जुलाहा उस बालक को अपने घर उठा लाया और पालने लगा।'[41] कबीरपथ म प्रचलित कथाओ और कतिपय ग्रथो मे जो उल्लेख मिलते है उनसे कबीर के व्यक्तित्व को अतिरजित किया जाता है, जैसे रामानद का पहले उन्हे शिष्य क रूप म न स्वीकारना। पर गगास्नान के लिए जाते हुए रामानद के मार्ग म कबीर चुपचाप लेट गए और तब उन्हे गुरुमत्र देना पडा। रामानद की जन्मतिथि प्राय 1299 ई० स्वीकार की जाती है और इस प्रकार वह चौदहवी शती के सबसे प्रभावी व्यक्ति के रूप म आते हैं। उन्होने अपने उदार व्यक्तित्व स भक्ति की धारा को एक नई दीप्ति दी और उसे व्यापकत्व प्रदान किया। उनके प्रभाव मे आकर निर्धन, शूद्र आदि भी भक्ति के अधिकारी बने और हिंदू मुसलमानो म जातीय सौमनस्य की भावना विकसित हुई। यह स्वाभाविक ही है कि लगभग उसी समय मे कार्य करने वाले कबीर रामानद के उदार व्यक्तित्व स प्रभावित हो। इसीलिए विद्वान सहज ही उन दोनो का सबध मानते हैं। रामानद के अतिरिक्त शेख तकी का भी उल्लेख किया जाता है। 'रमैनी' की साखी इस प्रकार है

नाना नाच नचाय के, नाचै नट के भेख।
घट घट अविनासी बसै, सुनहु तकी तुम सेख।।[42]

कबीर साधारण जुलाहा जाति मे जन्मे थे और इसका उन्होने बारबार उल्लेख किया है 'जाति जुलाहा नाम कबीरा, बनि बनि फिरौं उदासी' अथवा 'तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा, चीन्हिन और गियाना आदि। डा० बडथ्वाल का विचार है कि मूल जाति 'कोरी' थी जो धर्मपरिवर्तन करके जुलाहा बनी होगी।[43] आचार्य

द्विवेदी इन्हें नाथपंथियो से जोडते हैं। वास्तविकता यह है कि कबीर जातिगत सौमनस्य के सबसे प्रखर पैरवीकार हैं और इसीलिए स्वय उनके विषय म हिंदू-मुस्लिम का प्रश्न उठाने मे सकोच होता है। कबीर एक ओर मुसलमान जुलाहा थे, पर साथ ही वह योगियो की उस परपरा मे आते हैं जिसमे दोनो प्रमुख सम्प्रदायों का प्रवेश था। वह खुद के विषय मे कहते हैं 'ना हिंदू ना मुसलमान।'

कबीर जिस परिवेश म विकसित हुए, वह अभावग्रस्त था और उन्ह एक सर्वहारा का जीवन जीना पडा होगा। उनकी प्रखर जागरूक प्रतिभा ने पराजय नही मानी और अपने सामाजिक वातावरण के प्रति विक्षोभ व्यक्त किया। जिसे कबीर का 'फक्कडपन' कहा जाता है, वह उनकी विद्रोही चेतना की उपज है। असहाय, विपन्न परिस्थितियो मे जन्म लेकर उन्होने दोटूक शब्दो मे समाज की जर्जर मान्यताओ पर चोट की। इस सदर्भ मे यह तथ्य भी विचारणीय है कि आखिर कबीर ने जीवन के अतिम क्षणो मे क्यो कहा कि 'जो कासी तन तजै कबीरा, तो रामहिं कौन निहोरा रे।' मेरा विचार है कि इससे उस विद्रोही कवि के आत्मविश्वास का भान होता है, साथ ही वह इस अधविश्वास को भी चुनौती देते हैं कि काशी मोक्ष की गारटी है।

कबीर पाडित्य का दावा नही करते और उनके विषय मे यह उक्ति काफी प्रचलित हो गई है 'मसि कागद छूयो नही, कलम गह्यो नहिं हाथ।' पर सत्सग से उन्होने अपने विवेक को विकसित किया था और देशाटन ने उन्हे अनेक जीवनानुभवो से गुजारा था। उनकी इन यात्राओ के कारण कबीरपथ की शाखाए देश के विभिन्न भागो मे फैली और कबीर के अनुयायी पजाब से गुजरात तक पाए जा सकते हैं। गुरुग्रथ साहिब मे कबीर को सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त है और इसके अनुसार उनका जीवन अत्यत सरल, सहज था। उनके जीवन की आवश्यकताए बहुत कम थी और वह आध्यात्मिक पथ के पथिक थे।[4] कबीर के व्यक्तित्व-निर्माण म मध्यकालीन इतिहास के दबाव सभवत सबसे अधिक सक्रिय दिखाई देते है और वे समन्वयशील सस्कृति के सर्वोत्तम प्रतीक कहे जा सकते हैं—मलिक मुहम्मद जायसी से भी एक चरण आगे।

कबीर का सामासिक स्वर

कबीर के व्यक्तित्व के निर्माण मे सर्वाधिक प्रभाव उस नाथपथी विचारधारा का है जो निराकार उपासना पर बल देते हुए भक्ति के द्वार साधारण सामान्यजन के लिए खोलती है। अवतारवाद की कठिनाई यह है कि मूर्ति पर पुरोहितवर्ग का एकाधिकार हो जाता है और उसके चारो ओर ऐसा व्यूह बन जाता है कि छोटी जातियों का प्रवेश वहा कठिन हो जाता है। यह वर्गभेद तो है ही, प्रकारातर से धार्मिक शोषण भी है। नाथपंथियो ने अपनी कतिपय सम्प्रदायगत सीमाओ के

बावजूद धर्माडंबर पर प्रहार किया और मन की शुद्धता पर जोर दिया। यही कारण है कि आगे आनेवाली संतपरंपरा विशेषतया निराकारोपासना के कवि उनसे बहुत प्रभावित हुए। कबीर में योगमार्ग की जो शब्दावली : इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, अनहदनाद, अवधूत, षट्चक्र, ब्रह्मरंध्रकमल, अलख निरंजन आदि प्राप्त है, वह नाथपंथी प्रभाव का संकेत है। कई बार सांप्रदायिक शब्दों, प्रतीकों में अपरिचित होने के कारण कबीर के अर्थ तक पहुंचने में कठिनाई होती है। इस दिशा में उनकी उलटबांसियां विशेष समस्या उत्पन्न करती हैं :

समंदर लागी आगि, नदियां जल कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढ़ि गई॥[65]

मन के समुद्र में विवेक की अग्नि प्रज्ज्वलित हुई तो इंद्रियजन्मा वासना की नदियां जलकर राख हो गईं। जब कबीर की चेतना में आध्यात्मिक जागरण का क्षण आया तो प्राण ऊर्ध्वमुखी हो गए, लौकिक धरातल से ऊपर उठ गए। संत नामदेव में भी इस प्रकार का भाव प्राप्त होता है 'जल की मछली कैसे चढ़ै षजूरि।'[66]

कबीर ने नाथपंथ, हठयोग आदि को काव्य के स्तर पर व्यंजित करने के लिए अपने विकसित संवेदन का आश्रय लिया। जहां वह आध्यात्मिक परिवेश का संपूर्ण चित्र बनाना चाहते हैं, वहां उनके सांप्रदायिक आग्रह लुप्त हो जाते हैं और हमें भावपूर्ण दृश्य प्राप्त होते हैं :

रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहं समुझि परै जब ध्यान धरै॥
बिना ताल जहं कंवल फुलाने तेहि चढ़ हंसा केलि करै।
बिना चंद उजियारी दरसै जहं तहं हंसा नजर परै॥
दसवें द्वारी तारी लागी अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकट नहिं आवै काम-क्रोध-मद-लोभ जरै॥
जुगन-जुगन की तृषा बुझानी, कर्म-भर्म-अघ-व्याधि टरै।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय कबहू न मरै॥[67]

यहां शब्दावली योगमार्गियों की है, पर कबीर ने उसकी सांप्रदायिकता को तोड़कर एक नया भावलोक जन्माया है जो काव्य के लिए अधिक उपयोगी है। कबीर इस दिशा में सजग हैं कि यद्यपि अवतारवाद को लेकर चलनेवाले व्यर्थ के संघर्ष से बचने के लिए निराकार का आग्रह अधिक उपादेय है और इससे नाथपंथियों का योगमार्ग उनकी सहायता भी करता है, पर वह यह भी जानते हैं कि उनके समक्ष साधारणजन भी उपस्थित हैं जिन्हें संबोधित करना काव्य का लक्ष्य है। विद्वानों ने नाथपंथी प्रभाव तो लगभग समस्त संतकाव्य पर स्वीकारा है और इसमें संदेह नहीं कि संतों को नाथों की रूढ़िप्रहारवाली मुद्रा का लाभ मिला।

पर कबीर की सामाजिक चेतना ने इसमें अपने जागरूक विद्रोही व्यक्तित्व का योग दिया।

सूफी प्रभाव

कबीर के समय तक भारत में सूफी संप्रदाय का पर्याप्त प्रचार हो चुका था और समाज में उन्हें स्वीकृति प्राप्त थी। इस्लाम की इस धारा का उदय उदारपंथियों द्वारा हुआ था और इसमें धार्मिक कट्टरता का स्पष्ट विरोध है। अपने सरल जीवन के कारण साधारण जनता पर उनका प्रभाव था तथा वह इस सीमा तक पूज्य स्वीकारे जाते थे कि उनके चमत्कार की कहानियां तक प्रचलित हो गई थीं। अल्लाह को प्रेम से प्राप्त करने के लिए उन्होंने अहं के विलीनीकरण का आग्रह किया, क्योंकि 'मैं' के रहते मिलन संभव नहीं। दौलाशाही संप्रदाय का विवेचन करते हुए शाहदौला के विषय में रामपूजन तिवारी लिखते हैं 'गरीबों के प्रति वे बड़े सदय थे। इसमें वे जाति, धर्म का ख्याल नहीं करते थे। उनकी इस उदारता ने उन्हें खूब जनप्रिय बना दिया। हिंदू, मुसलमान सभी उनका सम्मान करते थे। उनके शिष्यों में हिंदू भी थे, मुसलमान भी थे ...।'[46] स्थिति तो यह है कि अरब देश में जन्मा इस्लाम लंबी यात्रा तय कर आया था और उसमें अनेक प्रकार की जातियां-उपजातियां सम्मिलित हो गई थीं। इन परिस्थितियों में उसके लिए अपने कट्टर ढांचे को बनाए रख पाना कठिन था और इसीलिए सूफियों ने बिना खुला विद्रोह किए, कुरान की अधिक उदार मानवीय व्याख्या की। इस संदर्भ में बाशरा (शरीयत के अनुसार) तथा बेशरा (आजाद) जैसे शब्दों का प्रयोग भी मध्यकाल में किया गया।

सूफी सांस्कृतिक समन्वय के कवि स्वीकारे जाते हैं, पर निर्गुनियों की भांति उनकी दृष्टि खंडनात्मक नहीं है और वे प्रहार करना नहीं चाहते। विनय, समर्पण के द्वारा वे आध्यात्मिक जगत का निर्माण करते हैं। बारहवीं शती के अंत में मोईनुद्दीन चिश्ती मु० गोरी की सेना के साथ आए थे और अजमेर में बस गए थे। सबसे चिश्तिया संप्रदाय के माध्यम से भारत में सूफी मत का व्यापक प्रचार प्रसार हुआ और भारतीय सूफियों पर सबसे अधिक प्रभाव इसी संप्रदाय का है। अरबी में सूफियों का पर्यायवाची शब्द 'तसव्वुफ'[47] यहां पीछे पड़ जाता है और सूफी भारतीय परिवेश का भी उपयोग करते हैं। जहां तक काव्य का संबंध है तेरहवीं शताब्दी से ही सूफी इस क्षेत्र में सक्रिय थे और वे अपने विचारों को रचना के माध्यम से व्यक्त कर रहे थे। सूफियों ने सिंध की राह से प्रवेश किया था, इसलिए वहां उसका विपुल साहित्य मिलता है और दक्षिण के कई प्रेमाख्यानों का उल्लेख विद्वानों ने किया है। दक्खिनी को अभिव्यक्ति का माध्यम बनानेवाले मुसलमान विचारक किसी न किसी रूप में सूफी परंपरा से संबंधित थे। मुसलमान प्रचारक

और विचारक दक्खन मे जिस समय आए, उससे पहले ही सूफी विचार प्रणाली परिपक्व हो चुकी थी।[50] तेरहवी-चौदहवी शती मे अमीर खुसरो (1253-1325 ई०) मसनवियां लिख चुके थे, पर मौलाना दाऊद के 'चदायन' (14वीं शती) को आरंभिक सूफी प्रेमाख्यान का गौरव दिया जाता है।[51]

कबीर से पूर्व सूफियो का जो व्यापक प्रभाव था, उसने इस सजग कवि को प्रेरणा दी होगी। इस संदर्भ मे समीक्षक कबीर की रहस्यवादी रचनाओ पर कई प्रकार के प्रभाव देखते आए है। एक हिंदू धर्म की निगतिशील प्रवृत्तियो का विरोध करती हुई वह योगमार्गी धारा है जो बौद्धो के अवशेष रूप मे उसके कवलित हो जाने के बाद भी चलती रही। इसके अतिरिक्त भारत का अद्वैतवादी दर्शन है, जिसमे आत्मा परमात्मा के आध्यात्मिक मिलन पर बल दिया गया और जिसने सभी निर्गुनियो को प्रभावित किया—ज्ञानमार्गी अथवा प्रेममार्गी। कबीर के रहस्यवादी दर्शन मे निश्छल प्रेम की जो प्रगाढ़ता है, वह सूफियो की तन्मयता के निकट है और निश्चित ही 'आध्यात्मिक रति' के प्रसगो मे इसकी सहज अभिव्यक्ति हुई है

दुलहिनी गावहु मंगलचार।
हम घरि आए हो राजा राम भतार॥
तन रत करि मैं मन रति करिहू, पंच तत्त बराती।
रामदेव मोरे पाहुने आए, मैं जोबन मदमाती॥
सरीर सरोवर वेदी करिहू, ब्रह्मा वेद उचार।
रामदेव संग भावर लेहू, धनि धनि भाग हमार।
सुर तैंतीसू कौतिग आए, मुनिवर सहस अठासी।
कहै कबीर हम ब्याहि चले हैं, पुरिष एक अविनासी॥[52]

यहा परिणयप्रसग को आध्यात्मिक मिलनदृश्य के रूप मे अंकित किया गया है—सश्लिष्ट और प्रगाढ। इसी प्रकार कबीर की रचनाओ मे जिस 'आध्यात्मिक वियोग' का उल्लेख है वह भी सूफियो के समीप है। 'पद्मावत' मे योगी रतनसेन सपूर्ण विघ्न-बाधाओ को पार करता हुआ ब्रह्मरूपिणी पद्मावती से मिलना चाहता है। गुरुरूप हीरामन शुक से पद्मावती का सौंदर्यवर्णन सुनकर उसमे जो वियोगक्षण जागता है, उसका वर्णन जायसी ने 'प्रेमखड' मे किया है

सुनतहि राजा गा मुरछाई। जानौ लहरि सुरुज कै आई॥
प्रेम घाव-दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै तै सोई॥
परा सो पेम-समुद्र अपारा। लहरहिं लहर होई बिसभारा।
बिरह भौंर होइ भावरि देई। खिन खिन जाउ हिलोरा लेई॥[53]

कबीर मे वियोग की स्थिति यह है कि न दिन मे सुख है, न रात मे, न सुख है न छाया। न जाने कब से राम (ब्रह्म) की प्रतीक्षा करती हुई वियोगिनी आत्मा

मिलन के लिए तडप रही है, उसे एक क्षण विश्राम नहीं। मृत्यु के अनतर ही दर्शन होंगे क्या ? इस आध्यात्मिक पीडा को केवल अनुभूति के स्तर पर जाना जा सकता है

चोट सताणी विरह की, सब तन जरजर होइ।
मारणहारा जाणिहै, कै जिहि लागी सोइ ॥
सब रग तत रवाब तन, विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुनि सकै, कै साईं कै चित्त ॥
बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिस घटि बिरह न सचरै, सो घट सदा मसान ॥[54]

अध्यात्मदृष्टि और रहस्यचेतना

कबीर आत्मा परमात्मा के आध्यात्मिक मिलन के पक्षधर हैं और शाकरवेदात अथवा नाथपथियो के समान जगत को मिथ्या मानकर 'माया' से बचने की सलाह देते हैं। उनमे मायानिर्मित ससार की मरणशीलता के यथार्थ दृश्य है काठ की तरह चिता पर जलता अस्थिपजर और घास की तरह जलते केश। यह करुण दृश्य देखकर कबीर उदास हो जाता है। मनुष्य की जाति पानी के बुलबुले के समान है अथवा भोर म विलीन हो जाने वाले नक्षत्र की तरह। इस शरीर का गर्व कदापि न करना चाहिए क्योकि यह क्षणभगुर है — मरणशील। मायानिर्मित गोचर जगत की मरणशीलता के यथार्थ चित्र उरेहने के मूल मे कबीर का उद्देश्य आत्मा को लौकिक विषय-वासनाओ म लिप्त होने से रक्षित करना है। माया विचित्र है, यह किसी को नही छोडती, यहा तक कि देवताओ तक को नही। वह 'पापनी' मोहनी है और नारद तक उसके चक्कर मे आ गए थे .

माया महा ठगनि हम जानी।
निरगुन फास लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी ॥
केसव के कमला होइ बैठी, सिव के भवन भवानी।
पडा के मूरत होइ बैठी, तीरथहू मे पानी ॥
जोगी के जोगिन होइ बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के हीरा होइ बैठी, काहू के कौडी कानी ॥ ।[55]

माया स मुक्ति का उपाय है—शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति और इसके लिए सच्चे गुरु की आवश्यकता है। मेरा विचार है कि यहा कबीर अपने उस सामयिक परिवेश से विक्षुब्ध है जिसम जादू, टोना टोटका, चमत्कार के सहारे तथाकथित साधु-सत धार्मिक व्यापार करने लगे थे। कबीर की साखियो मे डा० श्यामसुदर दास ने प्रथम स्थान 'गुरुदेव कौ अग को दिया है जिसमे 'सतगुरु' को अनत महिमावान तथा आलोकदाता कहा गया है, वह दृष्टि देता है—ब्रह्म से साक्षात्कार कराता है। गुरु

ज्ञान का प्रकाश देता है जिससे मायाजन्य अंधकार मिट जाता है—एक नई दीप्ति छा जाती है। इसीलिए एक स्थान पर कबीर ने गुरु को ब्रह्म से भी पहले स्थान दिया क्योंकि उसी के माध्यम से सर्वोच्च सत्ता से मिलन होना है। फिर एक दोहे में कहा गया

गुरु, गोविंद तो एक है दूजा यहु आकार।
आपा मेट जीवत मरै, तो पावै करतार॥[66]

किंतु कबीर का बार बार आग्रह है कि होना चाहिए 'सतगुरु' ही। यदि गुरु सच्चा न हुआ तो वह तो डूबेगा ही साथ में चेले को भी ले जाएगा। 'दून्यू बूडे धार मे, चढि पाथर की नाव।'[67] निश्चित ही यह मध्यकालीन पाखंडवाद पर आक्रमण है। सच्चे गुरु से विवेक मिलता है, जीव मायामुक्त होता है और ब्रह्म तक जाने का मार्ग खुल जाता है।

कबीर को प्रायः ज्ञानमार्गी कहकर संतोष कर लिया जाता है पर प्रश्न है कि आखिर इस ज्ञान का स्वरूप क्या है? वह कर्मकांड, शास्त्र के विरोध में खड़े होनेवाले कवि हैं, इसलिए पंडिताई और पोथियों की रटंत विद्या के सहारे कोई 'विवेक' हासिल हो जाएगा—इसकी वह हंसी उड़ाते हैं 'पोथी पढि-पढि जग मुआ पंडित भया न कोइ।' 'प्रेम का ढाई आखर' ही ब्रह्म तक ले जाता है। पंडित जो कहते हैं, वह सत्य नहीं है 'पंडित बाद बदतें झूठा।' एक पद में कबीर ने शास्त्र की पंडिताई और अनुभव से प्राप्त ज्ञान का अंतर स्पष्ट किया है। तथा-कथित पंडितों (अहंकारपरिचालित) को संबोधित करते हुए वह कहते हैं

मेरा-तेरा मनुआ कैसे इक होई रे।
मैं कहता हौ आंखिन देखी, तू कहता कागद की लेखी।
मैं कहता सुरझावन हारी तू राख्यो उरझाई रे॥
मैं कहता तू जागत रहियो, तू कहता है सोई रे।
मैं कहता निर्मोही रहियो, तू जाता है मोही रे॥
जुगन जुगन समझावत हारा, कही न मानत कोई रे[68]

कबीर पंडिताई के स्थान पर नाथपंथियों के समान आचरण की शुद्धि, इंद्रिय-निग्रह, संयम, साधना, आध्यात्मिकता आदि का आग्रह करते हैं। वह जिस आध्यात्मिक परिवेश का निर्माण करना चाहते हैं वहां 'विवेक' सर्वोपरि है और यही मोक्ष का द्वार है—इसी से जीव ब्रह्म को प्राप्त करता है 'संतो भाई, आई ज्ञान की आंधी' और उसके आते ही माया-मोहजन्य अंधकार नष्ट हो जाता है, आध्यात्मिक आनंद की वर्षा होने लगती है।

कबीर की आध्यात्मिक चेतना उच्चतर मानवमूल्यों से जुड़ी है और वह कर्मकांड, शास्त्र अथवा अकादमिक पंडिताई का निषेध करती है। जिस 'ब्रह्म' को वह प्राप्त करना चाहते हैं, वह अलख निरंजन है और केवल ज्ञान से पाया

जा सकता है —गगास्नान करके नही। कबीर किसी व्यवस्थित दार्शनिक विचार-धारा का प्रतिपादन नही करना चाहते, पर उनका मतव्य बहुत स्पष्ट और दोटूक है, उसमें कही उलझाव अथवा अनिर्णय नही। योग मे प्रचलित शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी, वह सहज भाषा म अपना आध्यात्मिक मतव्य प्रकाशित करते हैं—जीव, ब्रह्म का अभेदत्व। कबीर का रहस्यवाद भी इस सामाजिक, सास्कृतिक आशय के कारण साप्रदायिक नही होने पाता और बार बार परम तत्व' अथवा 'महासुख' का प्रतिपादन करता दिखाई पडता है।

रहस्यवाद ने अपनी यात्रा का आरभ धार्मिक, साप्रदायिक सरक्षण म किया और अडरहिल न इस सदर्भ मे ईसाई सतो का उल्लेख किया है।[14] किंतु धीरे धीरे वह धार्मिकता के प्रभाव मे किंचित मुक्त हुआ। जब काव्य के भावनाक्षेत्र मे उसका प्रवेश हुआ तब रहस्यवाद का मुख्य आग्रह मोक्ष पर न होकर जीव-ब्रह्म के प्रेमाश्रित सबधो पर हुआ। इस क्षेत्र में सूफियो ने प्रेमपरक एक सपूर्ण प्रतीक जगत ही निर्मित कर लिया जिसके सहारे वे अपने मनोवाछित आशय की व्यजना कर सकते थे। कबीर की रहस्यवादी चेतना, योगमार्गियो के अनक शास्त्रीय शब्दो का प्रयोग करत हुए भी, जहा तक उसकी रागमयता का प्रश्न है, सूफियो के अधिक निकट है। इस दृष्टि से कबीर का जीव विवेक अथवा ज्ञान के साथ मायामुक्त होकर ब्रह्म तक पहुचने की आध्यात्मिक पथरेखा तो पा जाता है, पर उसे सदैव के लिए प्राप्त करता है अपने प्रेमभरे हृदय के बलबूते पर ही—इसी प्रकार वह एकाकार हो सकता है। इस सदर्भ मे कबीर के वे अश बडे उपयोगी हैं जहा उन्होने अपनी आत्मा को राम की बहुरिया' माना है—आध्यात्मिक दापत्य का प्रतीक। इस दृष्टि से कबीर और सूफियो की रहस्यवादी चेतना मे पर्याप्त साम्य है जिसे सभी ने स्वीकारा है। कबीर ने रहस्यवाद को साप्रदायिक प्रतिबधो स मुक्त कर एक नया आध्यात्मिक अर्थ दिया और उसे मध्यकालीन काव्य मे उनके विशिष्ट प्रदेय रूप मे स्वीकारना चाहिए—सूफियो के समान।

जुझारू स्वर और सामाजिक चेतना

कबीर के काव्य मे मध्यकाल, सकेत से ही सही पर अपने नग्न यथार्थ मे प्रक्षेपित हुआ है। इस दृष्टि से वह अपने समय के सबसे सजग कवि हैं और जहा तक सामाजिक भयावहता पर आक्रमण करने का प्रश्न है, वह तुलसी से आगे निकल जाते हैं। जैसा कि सकेत किया जा चुका है कबीर का सपूर्ण परिवेश उन्हे सामान्य-जन से जोडता है और प्रकाशचद गुप्त जैसे प्रगतिवादी समीक्षको ने उन्हें 'जनवादी कवि' घोषित करते हुए लिखा है 'जीवनपर्यंत अपनी अटपटी, सधुक कडी भाषा मे कबीर उत्तर भारत की जनता को सीख देते रहे। सुकरात के समान वह कडवी बातें कहते थे। उनके विद्रोही हृदय का स्वर तत्कालीन शासन

व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था पर तीव्र आघात करना था।'[40] कबीर अपने सामाजिक परिवेश के प्रति सबसे सचेत कवियों में हैं और उस विषम व्यवस्था के प्रति उनमें तीव्र असंतोष है। उनकी विद्रोही चेतना में तीखी प्रतिक्रियाएं उपजती हैं और वह ठेठ भाषा में समाज की जर्जर मान्यताओं पर आक्रमण करते हैं। इस दृष्टि से वह मध्यकाल के सबसे जुझारू कवि हैं।

कबीर की यह सामाजिक चेतना उन्हें आज भी सबसे प्रासंगिक कवियों की पंक्ति में ला बिठाती है और कहा जा सकता है कि मध्यकाल ने उनकी प्रखर वाणी के माध्यम से अपनी विद्रोहशीलता को सबसे तीखी अभिव्यक्ति दी है। जिस ब्रह्म से वह एकाकार होना चाहते हैं, उसे भी उन्होंने नहीं बख्शा और माया के प्रसंग में कहा कि 'रमैया की दुलहिन लूटा बाजार।' काशी छोड़कर मगहर की ओर प्रस्थान करने का संकल्प प्रकारांतर से 'राम' को चुनौती है कि क्या आभ्यंतर की शुचिता मोक्ष की निर्णायक है अथवा पुराणवर्णित तथाकथित तीर्थस्थल ! कबीर के समय का समाज हिंदू-मुस्लिम टकराहट से गुजर रहा था, यद्यपि विजेताओं का आरंभिक आवेश कुछ कम हो चला था और सहअस्तित्व के सूत्र तलाशे जा रहे थे। संभवतः अपने पौरोहित्य को सुरक्षित रखने के लिए दोनों धर्मों के कट्टर-पंथी जातीय सौमनस्य की दिशा में सक्रिय न थे, इससे उनके एकाधिपत्य के लड़खड़ाने का खतरा था। कबीर जिस जुलाहा जाति में जन्मे थे, वह सर्वहारा तो थी ही, उसे लेकर हिंदू-मुस्लिम का प्रश्न भी उठाया जाता रहा है। कबीर ने स्वयं को इस संकीर्णता से मुक्त करते हुए आध्यात्मिक स्तर पर अद्वैतवादी ढंग से 'अलख निरंजन' का प्रचार किया। उन्होंने कहा

एक निरंजन अलह मेरा, हिंदू तुरक दुहू नहि मेरा।
राखू व्रत न महरम जाना, तिसही सुमिरू जो रहै निदाना।
पूजा करू न निमाज गुजारू, एक निराकार हिरदै नमसकारू।
ना हज जाऊ न तीरथ पूजा, एक पिछाण्या तो क्या दूजा।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सू मन लागा।।[41]

जातिवाद पर कबीर ने सबसे तीखा आक्रमण किया। इस संबंध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उनके परिवेश का संकेत करते हुए कहा है :

> कबीर उस समाज में पालित हुए थे जो न तो हिंदुओं द्वारा समादृत था न मुसलमानों द्वारा पूर्ण रूप से स्वीकृत। यह कुल परंपरा से ज्ञानार्जन के अयोग्य समझा जाता था। नाम मात्र की मुसलमान इस जुलाहा जाति के रक्त में प्राचीन योगमार्गीय विश्वास पूरी मात्रा में वर्तमान था पर शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने का दरवाजा उसके लिए रुद्ध ही था। ये गरीबी में जनमते थे, गरीबी में ही पलते थे और उसी में मर जाया करते थे। ऐसे कुल में पैदा हुए व्यक्ति के लिए कल्पित ऊंच-नीच भावना और जातिव्यवस्था का

फौलादी ढाचा तर्क और बहस की वस्तु नही होती, जीवन-मरण का प्रश्न होता है।[62]

ऐसी विपरीत परिस्थितियो मे कबीर अपने गहरे आत्मविश्वास को लेकर चले और उन्होंने वर्ण, वर्ग म विभाजित समाज व्यवस्था पर निर्भय प्रहार किए।

कबीर हिंदू-मुसलमान दोनो को फटकारते हैं—क्यो व्यर्थ के मिथ्याडबर मे पडे हुए हो, ईश्वर तो एक है। सघर्ष अवतार और मूर्ति को लेकर है इस्लाम मूर्ति-भजक है और हिंदू बिना देवी-देवता के रह नही सकते। इससे मुक्ति पाने का एक ही उपाय है—निराकार की उपासना। कर्मकाड से मुक्ति नही प्राप्त हो सकती, उपवास, तीर्थाटन, रोजा, नमाज सब व्यर्थ है। बाह्याचार से आडबर फैलता है और भारतीय मध्यकाल मे स्थिति इतनी दयनीय हो गई थी कि सारा धार्मिक वातावरण ही भ्रष्ट हो गया था। कबीर कहते हैं कि साधु की जाति न पूछो, उसका ज्ञान जानने की चेष्टा करो। सच्चा पीर वह है जो दूसरो की पीडा जानता है। वह प्रश्न करते हैं कि 'हिंदू तुरक कहा ते आए किनि एह राह चलाइ।'[63] समकालीन परिवेश का चित्रण करते हुए वे बनारस की भ्रष्ट धार्मिक व्यवस्था का दृश्य उपस्थित करते हैं

गज साढे तै तै धोतीआ तिहरे पाइन तग।
गली जिन्हा जपमालीआ लोटे हाथ निबग।
ओइ हरि के सत न आखीअहि बानारसि के ठग॥
ऐसे सत न मो कउ भावहि।
डाला सिउ पेडा गटकावहि।
बासन माजि चरावहि ऊपरि काठी धोइ जलावहि।
बसुधा खादि करहि दुई चूल्हे सारे माणस खावहि॥
ओइ पापी सदा फिरहि अपराधी मुखहु अपरस कहावहि।
सदा सदा फिरहि अभिमानी सगल कुटुब डुबावहि।
जितु को लाइआ तित ही लागा तैसे करम कमावै।
कहु कबीर जिसु सतगुरु भेटै पुनरपि जनम न पावै।[64]

'साढे तीन गज की धोती, पैरो मे तिहरे तागे, गले मे माला, हाथ मे लोटा। इन्हे सत न कहना चाहिए, ये बनारसी ठग हैं। टोकरे भर पेडा गटक जानेवाले ठग अच्छे नही। बरतन माजकर छिपकर खाना खाना, लकडियो को धोकर जलाना जैसे मिथ्याडबर।' कबीर पूरे पद म रगेसियार पाखडियो को बेनकाब करते हैं।

कबीर मध्यकाल मे सास्कृतिक, जातीय सौमनस्य की मशाल लिए खडे हैं और जानते हैं कि एक ईश्वर के सहारे ही सबको प्रेम बधन मे बाधा जा सकता है। वह दोना जातियों को फटकारते हैं, आडबरियो से बचने की शिक्षा देते हैं

और 'साखी' के माध्यम से अपनी बात कहते हैं, पर वह स्वयं को सबोधित करके भी बहुतेरी चेतावनी देते हैं। कबीर ने निर्भय स्वर में घोषणा की कि 'वेद कतेब इफतरा भाई, दिल का फिकरू न जाई।' वेद, कुरान झूठे हैं, इनसे हृदय की चिंता नहीं मिटती। 'कबीर वाड्मय' के संपादकों का मत है कि 'कबीरदास ने तीन पद्धतियों का प्राय विरोध किया है। वे हैं कर्मकांड अर्थात यज्ञादि, शाक्तपद्धति अर्थात बलि आदि और वैष्णवों की नवधा भक्ति।'[65] कबीर जुझारू कवि होने के कारण सामाजिक भ्रष्टाचार पर तीखा आक्रमण तो करते हैं, पर उनकी दृष्टि केवल नकारात्मक नहीं है, वह विकल्प प्रस्तुत करने का सामर्थ्य भी रखते हैं। भोग, आडंबर, जातिवाद, संशय में फंसे हुए मध्यकाल का संकेत वह स्थान स्थान पर करते हैं और अपना विक्षोभ व्यक्त करते हैं। पर वह एक नए आध्यात्मिक समाज की कल्पना कर सकने की रचनात्मक दृष्टि भी रखते हैं और उनका मानवमूल्यों पर आश्रित अध्यात्म पथ इसी दिशा में एक प्रयत्न है, यद्यपि उसकी कुछ रेखाएं ही उनमें उपलब्ध हैं, संपूर्ण दर्शन नहीं। यहां जातियों के बंधन नहीं होंगे, ऊंच-नीच, गरीब-अमीर का अंतर न होगा और ईश्वरप्राप्ति के लिए कर्मकांड की जरूरत न होगी। यह कबीर का ब्रह्ममय अध्यात्मलोक है, पर जिसमें रहस्यवादी संकेतों के बावजूद लोकजीवन की सदाशयता उपस्थित है। निश्चित है कि एक बार 'विवेक' जागृत हो जाने पर 'इलहाम' होने पर जीव उस स्थिति में पहुंच जाता है कि 'मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।' प्रकारांतर से कबीर मध्यकालीन भोगवाद को चुनौती देते हैं—हाथ लुकाठी लेकर वह भी सरे बाजार। विवेक प्राप्त होने की स्थिति का पद है :

अब मैं पाइबौ रे पाइबौ ब्रह्मगियान।
सहज समाधैं सुख मैं रहिबौ, कोटि कलप बिश्राम॥
गुरु कृपाल कृपा जब कीन्ही, हिरदै कंवल बिगासा।
भागा भ्रम दसौं दिसा सूझा, परम जोति प्रकासा॥
मृतक उठ्या धनक कर लीयैं, काल अहेडी भागा।
उदया सूर निस किया पयाना, सोवत थैं जब जागा॥[66]

कबीर के काव्य में दो छोर दिखाई देते हैं—सामाजिक सरोकार जिसकी अभिव्यक्ति के लिए वह व्यंग्य तक का सहारा लेते हैं और रहस्यवादी चेतना जहां वह आध्यात्मिक ऊंचाइयों का बखान करते हैं। पर मेरे विचार से इनमें ऐसा तात्विक विरोध नहीं है कि अधिक टकराहट की गुंजाइश हो अथवा कवि में अंतर्विरोध प्रतीत हो, क्योंकि दोनों के मूल में एक ही आशय सक्रिय है—उच्चतर मानवीय मूल्यों की तलाश। कबीर हिंदू-मुसलमानों दोनों से कहते हैं : ईश्वर को देवालय, मस्जिद में मत खोजो, वह मृगनाभि की कस्तूरी के समान भीतर ही वास करता है। चेतना का यह आभ्यंतरीकरण जातीय सौमनस्य के साथ साथ एकेश्वरवाद

का भी प्रचार करता है :

तुरक मसीति देहु रे हिंदू, दहूठा राम खुदाई ।
जहा मसीति देहुरा नाही, तहा काकी ठकुराई ॥
हिंदू तुरक दोऊ रह तूटी, फूटी अरु कनराई ।
अरध उरध दसहू दिस जित, तित पूरि रह्या राम राई ॥
कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी रहि चलि भाई ।
हिंदू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई ॥[67]

रचनासंसार

कबीर मे बार बार ईश्वर की अद्वैतता का बखान है 'दोइ कहैं तिनही कौ दोजख' (नरक) । इसके मूल मे सामाजिक-आध्यात्मिक दृष्टिया समान रूप से सक्रिय हैं। कबीर ने अपने सांस्कृतिक आशय की अभिव्यक्ति के लिए स्वय अपना माध्यम चुना और 'जनभाषा' के ठेठ देसी रूप को अपनाया । जिसे आचार्य शुक्ल सधुक्कडी भाषा कहते हैं, वह वास्तव मे जनता के जीवन से प्राप्त की गई सामान्यजन की बोली है, जिसे उन्होने काव्य का माध्यम बना लिया है । पजाबी, राजस्थानी, अवधी, ब्रज, भोजपुरी, फारसी, अरबी, आदि के शब्द उनकी रचनाओ मे आ गए हैं। देशाटन, सतसमाज से सपर्क तथा अनेक प्रकार के वचनो का श्रवण आदि से उन्होने अपना शब्दसभार प्राप्त किया होगा । भाषा की सहजता के मूल मे कबीर का स्पष्ट सामाजिक आशय है और योग की शब्दावली का प्रयोग करते हुए भी वह इस दिशा मे पर्याप्त सजग हैं। कबीर साहित्य के पारिभाषिक शब्दो पर विचार करते हुए विद्वानो ने स्वीकार किया है कि उन्होने नए सदर्भ मे भी इनका प्रयोग करना चाहा है। उन्होने अजपाजाप, अनहदनाद, अमृत, उन्मनि, खसम, नादबिंदु, निरजन, सहज, सुरति-निरति आदि शब्दो को लिया है। भाषा की सामाजिकता के लिए कबीर का अध्ययन अपेक्षित है ।

कबीर का रचनासंसार गहरे आत्मविश्वास से निर्मित है और इसके मूल मे उनकी उदार मानवीय चेतना सक्रिय है । वह जिस साधारण समाज तक अपनी बात पहुचाना चाहते हैं, उसके लिए उन्होंने ठेठ देसी शब्दावली को अगीकार किया और अनगढ प्रचलित मुहावरे काव्य मे ढाल दिए । माटी कुम्हार से कहती है कि तू मुझे क्या रौंदता है, एक दिन ऐसा आएगा जब मैं तुझे रौंदूगी । दास कबीर ने झीनी झीनी चदरिया बडे जतन से ओढी और बिना मैली किए ज्यो की त्यो धर दी । गूढ से गूढ तत्वज्ञान को जनभाषा म रोजमर्रा के प्रतीको के माध्यम से व्यक्त करने मे कबीर, तुलसी मध्यकालीन हिंदी काव्य मे सर्वोपरि हैं । कबीर दोहा, पद, साखी, रमैनी मे सहज भाव से अपना मतव्य प्रकाशित कर देते हैं— न पडिताई से आतकित करना चाहते हैं और न कलावादिता के चक्कर मे फसते

हैं। उनमे आध्यात्मिक वियोग का वर्णन भी सामान्यजन के मुहावरे मे है

चकवी विछुरी रैणि की, आइ मिली परभाति।
जे जन विछुरे राम से, ते दिन मिलें न राति॥
अखडिया झाई पडी, पथ निहारि निहारि।
जीभडिया छाला पड्या, राम पुकारि पुकारि॥
नैना नीझर लाइया, रहट बसै निस जाम।
पपीहा ज्यू पिव पिव करौं, कबरु मिलहुगे राम॥[66]

भारतीय धर्मसाधना मे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर को बहुत ऊचा स्थान दिया है। उन्हे फक्कड, मौजी, मस्तमौला जैसे विशेषण दिए हैं जो किसी व्यक्ति मे परम आत्मविश्वास (अहकार नही) से उपजते हैं। मध्यकालीन भक्ति-काव्य मे वह एक निर्भय सतकवि के रूप मे आलोकित हैं और उन्हे हिंदी का आदिविद्रोही कवि कहा जा सकता है—सजग सामाजिक चेतना से परिचालित। हिंदी की प्रगतिशील चेतना उनसे प्रेरणा पाती आई है।

कबीरपथ

कबीर ने जो साधनाभूमि निर्मित कर दी थी, उसने पथ का रूप ग्रहण किया और उनके व्यक्तित्व के सहारे, 'कबीरपथ' बना। कबीरपथियो की शाखाए उत्तरप्रदेश, बिहार से लेकर गुजरात, काठियावाड तक फैली। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने इनका परिचय देते हुए, 'अनुराग सागर' के आधार पर द्वादश पथ का उल्लेख किया है।[67] इनमे धर्मदास द्वारा प्रवर्तित 'धर्मदासी शाखा' का पर्याप्त महत्व है जिसका कार्यक्षेत्र मध्यप्रदेश है। अपने नाम के आधार पर किसी पथ का प्रवर्तन कबीर जैसे उदारचेता का प्रयोजन नही रहा होगा, पर शिष्यों ने उनके व्यक्तित्व को केंद्र मे रखकर सप्रदाय निर्मित किए, जिनका आरभिक प्रयोजन तो कबीर की विचारधारा का प्रचार-प्रसार था, पर धीरे धीरे वे सकुचित होते गए। स्थिति मे ऐसा परिवर्तन आया कि नानक, दादू आदि को लेकर भी पथ निर्मित हुए। शोधकर्ताओ ने इनकी लबी सूची दी है। पथ कबीरपथ, नानकपथ, लालपथ, दादूपथ, बावरीपथ, मलूकपथ, गरीबपथ। सप्रदाय निरजनी सप्रदाय, बाबा-लाली सप्रदाय, धामी सप्रदाय, सत्तनामी सप्रदाय, दरियादासी सप्रदाय, दरियापथ सप्रदाय, शिवनारायणी सप्रदाय, चरणदासी सप्रदाय, रामसनेही सप्रदाय। इनमे अधिकाश पर कबीर के व्यक्तित्व की छाया मौजूद है और इस जागरूक रचनाकार की सामाजिक चेतना को सभी ने सराहा है।

सूफी रचनाए

सांस्कृतिक समन्वय के क्षेत्र में रामानद, कबीर ने क्रातिकारी रुख अपनाया पर

सूफियो ने उस आशय तक पहुचने के लिए प्रेमपथ का सहारा लिया। प्राय निर्गुण काव्यधारा का विवेचन करते हुए उसके ज्ञानमार्गी, प्रेममार्गी विभाजन कर दिए जाते हैं और प्रथम का सबध कबीर से तथा दूसरे का सूफी कवियो से स्थापित किया जाता है। मेरे विचार से यह सुविधा के लिए किया गया एक प्रकार का कृत्रिम वर्गीकरण है, क्योकि स्थिति तो यह है कि साकार निराकार का द्वद्व भी उतनी विभाजक रेखाओ का पक्षधर नही जैसा कि कुछ विद्वानो द्वारा रेखांकित किया जाता है। नामदेव अथवा कबीर भी तुलसी के समान 'राम नाम' का महत्व प्रतिपादित करते हैं और तुलसी राम के अवतारी रूप के बावजूद 'सगुनहि, निगुनहि नहि कछु भेदा' की बात करते हैं।

सूफियो ने प्रेम से ईश्वर अथवा ब्रह्मप्राप्ति का प्रचार किया पर यह मात्र भावावेश नही है। इसके लिए किसी गुरु, पीर, आलोकदाता की आवश्यकता होती है जो हृदय मे अनुराग का बीजारोपण करे। प्राय प्रेमदर्शन की चर्चा करते हुए उसके विवेकपक्ष को विस्मृत कर दिया जाता है। रतनसेन के मन मे पूर्वानुराग का भाव हीरामन सुग्गा जगाता है और वही पथप्रदर्शन करता हुआ उसे पद्मावती तक पहुचाता है। सूफी साधना म प्रेम के साथ ही ज्ञान, विवेक की भी स्वीकृति है। सूफियो ने ज्ञान के दो विभाजन किए 'इल्म'—लौकिक ज्ञान तथा 'मारिफ'—अध्यात्म ज्ञान और ईश्वरप्राप्ति क लिए मारिफ' की आवश्यकता होती है। इस प्रकार ज्ञान और प्रेम की धाराए एक दूसरे की पूरक भी कही जा सकती हैं।

भारत मे सूफिया का प्रवेश इस्लाम के साथ हुआ, विशेषतया सिंध प्रात मे। इसीलिए सिंधी, पजाबी मे सूफीकाव्य पहले आरभ हुआ और हिंदी म वह लगभग तेरहवी शती मे अधिक सक्रिय हुआ। विद्वान भारत मे सूफीमत के प्रभावी ढग से प्रवेश होने का समय बारहवी शती मानते हैं। भारत म चार मुख्य सूफी सप्रदाय हैं चिश्ती, सुहरवर्दी कादिरी और नक्शबदी। यों उवैसी, शत्तारी आदि सप्रदायो के भी उल्लेख मिलते हैं। इन सबम सर्वाधिक प्रभाव चिश्ती सप्रदाय का है जिसके प्रवर्तक हैं—ख्वाजा आबू इशाक शामी चिश्ती (मृत्यु 966 ई०)। उनके शिष्य ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती 1190 ई० म भारत आए और अजमेर एक महत्वपूर्ण सूफी केंद्र बना। इस क्रम म शेख निजामुद्दीन औलिया (जन्म 1238 ई०) की गणना अपने समय के प्रसिद्ध सूफी सतो म की जाती है। 'वह हिंदुस्तान के मुसलमानो के इतिहास मे एक महान आध्यात्मिक शक्ति प्रस्तुत करते हैं। उनके शिष्य सारे देश म फैल गए। उनके व्यक्तित्व तथा धार्मिक दृष्टिकोण ने हिंदुस्तान म चिश्ती सप्रदाय की लोकप्रियता को सुदृढ कर दिया।'[70]

सूफी चिंतन

सूफी चिंतन यद्यपि मूलत इस्लामी है, पर वह 'बेशरा' भी है, अर्थात कुरान, हदीस से स्वतंत्र होकर भी चिंतन करता है। इसी कारण कई बार कट्टरपंथियो द्वारा सूफियो का विरोध हुआ। सूफी कुरान को स्वीकार करते हुए 'सादा जीवन' बिताते थे, लगभग वैरागी जैसा। अल्लाह को उन्होने सर्वोपरि माना—अखड, अविभाज्य, परमज्योति, सर्वशक्तिमान। कुरान मे अल्लाह को 'आसमान और जमीन की रोशनी' कहा गया है।[71] सूफियो की इस एकेश्वरवादी विचारणा पर विद्वानो ने भारतीय अद्वैत भावना का भी प्रभाव देखा है और जायसी के सदर्भ मे इसका विशेष उल्लेख किया है। अल्लाह को सर्वोच्च सत्ता के रूप मे स्वीकार कर सूफियो ने पैगबर मुहम्मद को *'अल्लाह के नूर' रूप मे चित्रित किया*, जो विधाता की ज्योति पृथ्वी पर लाते हैं। 'पद्मावत' के आरभ मे इसकी चर्चा है। उन्होंने सृष्टि को उस सीमा तक त्याज्य नही माना, जैसा कि मायावादी दृष्टि म वर्णित है, पर जीव और ईश्वर के मिलन मे लौकिक सबध बाधा उपस्थित करते हैं—शैतान की तरह। इसीलिए सूफियो ने लौकिक प्रतीको को अलौकिक, आध्यात्मिक अर्थ मे प्रयुक्त किया और कबीर के समान स्त्री पुरुष के रागात्मक सबधो को ईश्वर के लिए अपनाया। प्रश्न है कि आखिर जीव का ब्रह्म से मिलन कैसे हो जो मानवचेतना का चरम लक्ष्य है। इसके लिए 'हस्ती का फना होना' अथवा अह का विलीनीकरण ईश्वरप्राप्ति के लिए आवश्यक है।

सूफियो की प्रेमभावना चिंतन के क्षेत्र मे उनका विशिष्ट प्रदेय है, जिसे सपूर्ण, बेशर्त समर्पण कहा जा सकता है। अत्यत विनीत भाव से, अपनी दीनता को लिए हुए, प्रेमी जीव अपने प्रिय आराध्य के सम्मुख उपस्थित होता है—बिना किसी कर्मकाडी आडबर के—वहा केवल सच्ची भावना का सहारा है। दैन्य, समर्पण पर *आश्रित* सूफीभावना की परीक्षा उस समय होती है जब ईश्वर को पाने के लिए जीव की आत्मा आध्यात्मिक वियोग से गुजरती है। किंतु यह अनिवार्य क्षण है, इसके बिना रहस्यवाद अपनी परिणति नही प्राप्त कर सकता और इसीलिए यह 'विरह' प्रीतिकर है क्योकि इसी के माध्यम स आनद की उपलब्धि होगी। 'मआरिफत' का सबध अल्लाह के प्रेम अथवा अनुग्रह से जोड़ा जाता है[72] जिसे प्राप्त करना जीव का लक्ष्य है। आत्मा जब ईश्वर के वियोग मे विलाप करती है, उसके मार्मिक चित्रण के लिए सूफी काव्य ससार मे प्रसिद्ध है। इसकी पुष्टि आर० ए० निकल्सन ने अपने ग्रथो म की है। विद्वानो ने सूफियो की प्रेमकल्पना और भारतीय भक्तिभावना मे समानता भी देखी है।[73]

सूफी साधना ने क्रमश अपना एक समृद्ध चिंतन पक्ष निर्मित किया, यद्यपि उसे इस सीमा तक अकादमिक अथवा शास्त्रीय नही हो जाने दिया गया कि

उसकी रचनात्मक संभावनाएं ही समाप्त हो जाएं। यदि ऐसा होता तो उसमें मसनवी की वह श्रेष्ठ परंपरा न मिलती जिसमें भारतीय कवियों के अतिरिक्त, उमर खैयाम, सादी, हाफ़िज, फरीदुद्दीन अत्तार, जलालुद्दीन रूमी, सनाई, निजामी, जामी आदि के शानदार हस्ताक्षर हैं। सूफियों का एक संपूर्ण शब्दजगत और प्रतीक कोष है जिसे शताब्दियों में संचित किया जाता रहा है। चेष्टा करके विद्वानों ने इनके भारतीय समानार्थी प्राप्त किए हैं—नफ्स (अहं), कल्ब (हृदय), सिर्र (ज्ञान), आरवा (अनुभूति) आदि। सूफी साधना में सात सोपान पार करके फिर चार मुख्य चरण हैं शरीयत— धर्मग्रंथ का पालन, तरीकत—सर्वोच्च सत्ता का ध्यान, हकीकत—परमसत्ता का ज्ञान और मारिफत—परमसिद्धि की अवस्था। सूफी हृदयपक्ष का आग्रह करते हुए भी तिलवत अथवा कुरानपाठ की बात करते हैं, इसी प्रकार जिक्र (स्मरण), फिक्र (चिंतन अथवा ध्यान), समा (भजन-कीर्तन), अवराद (प्रार्थना) आदि की चर्चा भी उन्होंने की है। सूफियों ने अपने चिंतनपक्ष की अभिव्यक्ति के लिए एक विस्तृत प्रतीकजगत निर्मित किया जिसमें लौकिक के माध्यम से अलौकिक, आध्यात्मिक संकेत किए गए।'[4] ये प्रतीक प्रेमभावना को केंद्र में रखकर चलते हैं और यहां प्रिय प्रिया के संबंधों की सर्वाधिक चर्चा हुई है—आशिक, माशूक। शराब ईश्वरप्रेम की मदिरा में रूपांतरित हुई और खुदा को स्त्रीपात्र के रूप में चित्रित किया गया है। अल्लाह के जमाल अथवा माशूक के हुस्न पर निसार होने में जीव सुख मानता है। सूफियों का प्रतीकसंसार इतना प्रभावी है कि मध्यकालीन हिंदी कवि के लिए उससे किनाराकशी कर जाना संभव नहीं।

सूफियों का दर्शनचिंतन जब रचना में अवतरित हुआ, विशेषतया काव्य में, तब कवियों ने सर्वाधिक प्रेरणा उसके मानवीय आधार से प्राप्त की। अपनी मानवीय उदारता, विनयशीलता, सहजता में सूफी चिंतन अरब, फारस में पर्याप्त लोकप्रियता पा चुका था और जब वह भारत में अधिक सक्रिय हुआ तब चिंतन तथा काव्य दोनों क्षेत्रों में वह कई ऊंचाइयां पार कर चुका था अर्थात उसकी प्रशस्त पृष्ठभूमि थी। सूफियों की उदार दृष्टि ने रचनाकारों को विशेष रूप से आकृष्ट किया, इसमें संदेह नहीं। सूफीमत पर विचार करते हुए निकलसन ने 'इसाइक्लोपीडिया' के अपने निबंध में लिखा है कि अरबी लेखक जाहिद बसरा ने (869 ई०म) 'सूफी शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग करते हुए सूफियों को 'पवित्रतम' घोषित किया। जहां तक भारत में सूफी प्रभाव का संबंध है, इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने भारतीय जनमानस को अपनी उदार मानवीयता से प्रभावित किया। उनका वैशिष्ट्य यह है कि उन्होंने हिंदू लोककथाओं को यहीं की सहज भाषा में व्यक्त किया। विद्वान स्वीकारते हैं कि सूफियों की उदारता, उनका संतों जैसा जीवन तथा भारतीय विचारधारा के साथ साम्य होने के कारण इन सूफी साधकों

के प्रति लोगो की श्रद्धा बढी। जातीय सौमनस्य के क्षेत्र मे सूफियो का महत्वपूर्ण प्रदेय है और उनकी रचनाए सास्कृतिक मेल-जोल का प्रामाणिक दस्तावेज।

प्रेमाख्यानक काव्य

हिंदी सूफी काव्य फारसी सूफी काव्य से प्रेरणा लेकर अग्रसर हुआ पर उसने भारतीय परिवेश को स्वीकार किया। फारस में सूफी रचनाए काव्य, जीवनी, निबध अनेक रूपो म प्राप्त होती हैं और सूफियो न अपने दर्शन का प्रतिपादन उनके माध्यम से किया है। काव्य मे मसनवी सपूर्ण काव्य होता है तथा प्राय उससे काव्यगरिमा की ध्वनि आती है। इनमे सर्गों के सहारे काव्यरचना होती है, जिसका एक निश्चित रूपाकार है ईश्वर वदना, पैगवर स्मरण, शाहेवक्त, काव्यप्रयोजन आदि। जलालुद्दीन रूमी की 'मसनवी' को धर्मग्रथ के समान आदर मिला। सनाई, अत्तार आदि श्रेष्ठ मसनवीकारो के रूप में स्वीकृत हैं। हिंदी मे अमीर खुसरो ने फारसी तथा हिंदी मे प्रेमाख्यानक काव्य रचे और उन्होंने स्वय स्वीकारा है कि इसकी प्रेरणा उन्हे फारसी सूफी काव्य से मिली। उसमे हम फारसी-हिंदी का समन्वित शिल्प देख सकते हैं। रिजवी का मत है कि हिंदी शब्दो का फारसी छदो मे उचित प्रयोग न हो सकता था, अत अमीर खुसरो ने देवलदी के स्थान पर दिवलरानी लिखा है।'[75]

सूफियो ने भारतीय परिवेश मे सूफीकाव्य को एक नया देसी व्यक्तित्व दिया और सास्कृतिक क्षेत्र म यह उनका महत्वपूर्ण प्रदेय है। लोकजीवन मे चली आती हुई प्रेम कहानियो के माध्यम से उन्होने आध्यात्मिक प्रेम की व्यजना की और उन्ही के द्वारा अपनी सूफी साधनापद्धति का भी प्रकाशन किया। प्रेमाख्यानक काव्य परपरा के स्रोत यद्यपि सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रश मे खोजे जाते हैं, पर उसे पूर्णता पर पहुचाने मे हिंदी सूफी कवियो का विशिष्ट योगदान है। सूफी प्रेमाख्यान लोककथा का आश्रय लेकर चले पर उनमे फारसी मसनवी पद्धति का शिल्प अपनाया गया। इनका शिल्प फारस से पाया गया है पर इसमे कहानी भारतीय लोकजीवन की है। स्वाभाविक है कि देसी परिवेश को उन्होने स्वीकृति दी और यहा के पात्र ग्रहण किए और भारतीय प्रकृति तथा जीवन के मध्य उन्हे चित्रित किया।

मुल्ला दाऊद को सूफी प्रेमगाथा का प्रथम कवि स्वीकारा जाता है और कहा जाता है कि वह अमीर खुसरो का समकालीन था। 'चदायन' का सपादन करते हुए परमेश्वरी लाल गुप्त ने लिखा है कि 'सामान्य जनता मे भी यह काव्य काफी लोकप्रिय था, यह बात तो अबदुर्कादिर बदायूनी ने स्पष्ट शब्दो मे लिखी ही है। इस ग्रथ की अधिकाश प्रतियो का सचित्र होना भी, इस बात का समर्थन करता है।'[76] सूफी प्रेमाख्यानो की परपरा काफी विस्तृत है और उत्तर तथा

दक्षिण में उनका विकास किंचित पृथक ढंग से हुआ है। निज़ामी का 'मसनवी कदमराव व पदमराव', फिरोज का 'यूसुफनामा', अशरफ का 'नौसरहार' दक्खिनी हिंदी के आरंभिक आख्यानक काव्य स्वीकारे जाते हैं। शिवसहाय पाठक ने दक्षिण के मसनवियों की एक लंबी सूची दी है दकनी निज़ामी का 'कदमरावत ओ पदम' (1460 62 ई०), शाह हुसैनी का 'वशीरतुल अनवर' (1563 ई०), गवासी का 'सैफुलमुल्क व वदी पुज्जमाल' (1626 ई०), मुल्ला वजही का 'सवरस' (1636 ई०), मुकीमी का 'चदरवदन व माहियार' (1640 ई०), नुसरत का 'गुलसने इश्क' (1557 ई०), तबई का 'किस्सा बहराम वो गुल अंदाज' (1660 ई०), गुलामअली का 'पदुमावत' (1666 ई०), हाशिमी का 'यूसुफ ओ जुलेखा' (1680 ई०) आदि। श्रीराम शर्मा ने इनमें से कुछ का विवेचन अपने ग्रंथ 'दक्खिनी हिंदी का साहित्य' में किया है और उनकी टिप्पणी है कि "आख्यानकाव्यों का युग मीरा हाशमी ('यूसुफ ओ जुलेखा' का रचयिता) के साथ समाप्त होता है और 'यूसुफ ओ जुलेखा' की गणना इस समय के श्रेष्ठ काव्यों में होती है।" उत्तर के प्रेमाख्यानक काव्यों में प्रसिद्ध हैं मुल्ला दाऊद का 'चंदायन' (1380 ई०), कुतुबन का 'मृगावती' (1504 ई०), जायसी का पद्मावत' (सोलहवीं सदी), मझन का 'मधुमालती' (1545 ई०), उसमान का 'चित्रावली' (1613 ई०), शेख नबी का 'ज्ञानदीप' (1619 ई०) आदि।

जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी हिंदी सूफी काव्य के अन्यतम शिखर स्वीकारे जाते हैं और सभी विद्वानों ने उन्हें सराहा है। वास्तविकता यह है कि जायसी के व्यक्तित्व में केवल सूफी काव्य ही अपनी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति नहीं प्राप्त करता बल्कि हिंदू-मुस्लिम संस्कृतियां अपना पार्थक्य खोकर 'पद्मावत' जैसी विशिष्ट रचना में विलयित होती हैं। यह जायसी का सांस्कृतिक प्रदेय है—भारतीय जनजीवन में प्रचलित इतिहास और कल्पना की मिलनभूमि पर स्थित—पद्मावती की कथा तथा उसके माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना। आचार्य शुक्ल ने नागमती के विरहवर्णन के प्रसंग में महत्वपूर्ण टिप्पणी की है और 'भारतीय हृदय की साहचर्य भावना' से कवि की सांस्कृतिक उदारता का संकेत किया है तथा उसकी प्रशंसा में ही एक वाक्य में तीन बार 'अत्यंत' क्रिया विशेषण का प्रयोग।

मलिक इनके वंश की उपाधि है और अवध के जायस स्थान से संबंधित होने के कारण मलिक मुहम्मद 'जायसी' हुए। पद्मावत के 'स्तुतिखंड' में जायसी ने स्वयं अपनी जीवनरेखाओं के विषय में कतिपय संकेत किए हैं, उनकी एक आंख में ही ज्योति शेष थी—'एक नैन कवि मुहम्मद गुनी।' शाहेवक्त के रूप में उन्होंने शेरशाह (1540-45 ई०) का उल्लेख किया है 'सेरसाहि देहली सुलतानू।' पीर

सैयद अशरफ ने उनका पथप्रदर्शन किया। यद्यपि जायसी ने 'गुरु मोहदी' का भी उल्लेख किया है :

सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोहि पंथ दीन्ह उजियारा॥
गुरु मोहदी सेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहि कर सेवा।[77]

जायसी ने यद्यपि कई सूफी संतो का उल्लेख किया है, जैसे सैयद अशरफ जहांगीर का नाम लगभग सभी ग्रंथो म आया है पर वह निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परपरा मे थे और 'चित्ररेखा' का सपादन करत हुए शिवसहाय पाठक ने मुही-उद्दीन महदी को उनका गुरु स्वीकारा है, जिनका उल्लेख 'पद्मावत', 'अखरावट' 'चित्ररेखा' मे मिलता है[78] 'चले उताइल मोहदी सेवा'[79] तथा 'मोहदी गुरु शेख बुरहानू। कालपि नगर तेहिक अस्थानू।'[80] शेष जीवनरेखाए तो रचना के लिए बहुत प्रासगिक नही हैं, पर वह निश्चित ही सूफी संतो के समान सीधा-सादा जीवन बिताते होंगे और अतिम दौर म उन्होने वैराग्य ग्रहण किया था 'भा बैराग बहुत सुख पाएउ।'[81] जायसी का समय 1476 ई० स 1542 ई० स्वीकारा जाता है और कई विद्वान इसका समर्थन करते हैं।

'पद्मावत'

जायसी की रचनाए हैं पद्मावत', 'अखरावट', 'आखिरी कलाम', 'चित्ररेखा,' 'मसला', 'कहरनामा' अथवा 'महरी बाईसी'। पर उनकी कीर्ति का मुख्य आधार 'पद्मावत' है जिसके रचनाकाल के विषय म कवि ने स्वय लिखा है 'सन नौ सै सताइस अहै। कथा अरम्भ बैन कवि कहै।' 927 हिजरी अर्थात 1521 ई०। पद्मावत मे कुल 58 खड हैं। आरभ मे स्तुति खड' और अत मे 'उपसहार खड'। कवि मसनवी शैली का अनुसरण करता हुआ आरभिक 'स्तुति खड' निर्मित करता है और विनम्र भाव से कहता है

औ विनती पडितन्ह सो भजा। टूट सवारेहु मेरएहु सजा॥
हौं सब कविन्ह केर पछिलगा। किछु कहि चला तबल दइ डगा॥
हिय भडार नग आहि जो पूजी। खोली जीभ तारा के कूजी॥[82]

यहा कवि विनयी है—कवियो अथवा पडितो के पीछे पीछे चलनेवाला। वह पडित-जन से निवेदन भी करता है कि टूटे को सवार दें, और इसे सज्जित कर दें। पर उसे अपनी भावनाओ पर सपूर्ण विश्वास भी है, वह हृदय को रत्नभडार मानता है और यही उसकी पूजी है। कवि का आत्मविश्वास इन चौपाइयो के अत मे आए दोहे से व्यक्त होता है

मुहमद कवि जो प्रेम का ना तन रक्त न मासु।
जेइ मुख देखा तेइ हसा सुना तो आए आसु॥[83]

'पद्मावत' मे जिस पद्मावती की कथा को आधार बनाया गया है, उसके विषय

मे कहा जा सकता है कि सभव है जायसी ने कुछ पात्र इतिहास से प्राप्त किए हो पर मुख्यतया उनके सामने लोकप्रचलित कहानी रही होगी। इन्ही कथासूत्रो के सहारे उन्होने अपनी कविकल्पना का उपयोग करते हुए अठावन खडो का प्रबध-काव्य रच डाला। एक अनिद्य सौंदर्य के रूप मे पद्मावती अथवा पद्मिनी का सकेत इतिहासग्रथो मे भी मिलता है और अलाउद्दीन के चित्तौड आक्रमण को भी इससे सबद्ध करके देखा जाता है। कहा जाता है कि अलाउद्दीन खिलजी ने राणा रतन-सिंह की विख्यात रूपवती रानी पद्मिनी को पाने की लालसा से 1303 ई० मे मेवाड पर आक्रमण किया। अलाउद्दीन ने छल से रतनसिंह को बदी बना लिया, पर गोरा-बादल ने चतुराई से उन्हे फिर मुक्त करा लिया। भयकर सघर्ष हुआ जिसमे राणा मारे गए और पद्मिनी सती हो गई।[84] इस प्रकार 'पद्मावत' का पूर्वार्ध तो कल्पित है और सूफी चिंतन को प्रक्षेपित करता है, पर उत्तरार्ध मे इतिहास के कई सूत्र मिल जाते हैं। लगता है जायसी ने मूलत पद्मावती के चरित्र को तो लिया, कुछ कथासूत्र तलाश लिए और शेष अपनी कविकल्पना के सहारे निर्मित किया। इस कार्य मे लोककथाए उनकी सहायक रही होगी।

पारसमणि पद्मावती

जायसी का प्रयोजन एक ऐसी प्रेमकथा कहना है जो उनके आध्यात्मिक आशय को भी व्यजित करे। यदि 'तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा' आदि चौपाइयो को क्षेपक मानकर स्वीकार न किया जाए तो भी पद्मावत' के पात्रो की चारित्रिक सभावनाओ को कवि ने इस सीमा तक विस्तृत किया है कि वे प्रतीकत्व पा जाते हैं। पद्मावती काव्य का केंद्रबिंदु है, उसके अभाव मे प्रबधकाव्य लडखडा जाएगा। एक से अधिक बार उसका रूपवर्णन आया है और माना कि उपमान तथा प्रतीक निश्चित से हैं पर कवि इस दिशा म सजग है कि लौकिक सौदर्य वर्णन से ऐंद्रियता के स्थान पर अलौकिक छवि के सकेत मिलते रहें। 'जन्म खड' म यौवन के द्वार पर पहुची पद्मावती का सौदर्यचित्र है

भै उनत पदमावति बारी। रचि रचि बिधि सब कला सवारी ।।
जग बेधा तेहि अग सुबासा। भवर आइ लुबुधे चहु पासा ।।
बेनी नाग मलयगिरि पैठी। ससि माथे होइ दूइज बैठी ।।
भौह धनुक साधे सर फेरे। नयन कुरग भूलि जनु हेरे ।।
नासिक कीर कवल मुख सोहा। पदमिनि रूप देखि जग मोहा ।।
मानिक अधर दसन जनु हीरा। हिय हुलसे कुच कनक गभीरा ।।
केहरि लक गवन गज हारे। सुर नर देखि माथ भुइ धारे ।।
जग कोई दीठि न आवै, आछहि नैन अकास।
जोगी जती सन्यासी, तप साधहिं तेहि आस ।।[85]

सैयद अशरफ ने उनका पथप्रदर्शन किया। यद्यपि जायसी ने 'गुरु मोहदी' का भी उल्लेख किया है .

सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोहि पथ दीन्ह उजियारा ।।
गुरु मोहदी खेवक मैं सेवा। चलै उताइल जेहि कर खेवा ।[77]

जायसी ने यद्यपि कई सूफी सतो का उल्लेख किया है, जैसे सैयद अशरफ जहागीर का नाम लगभग सभी ग्रथो म आया है पर वह निजामुद्दीन औलिया की शिष्य-परपरा मे थे और 'चित्ररेखा' का सपादन करते हुए शिवसहाय पाठक ने मुही-उद्दीन महदी को उनका गुरु स्वीकारा है, जिनका उल्लेख 'पद्मावत', 'अखरावट' 'चित्ररेखा' मे मिलता है[78] 'चले उताइल मोहदी सेवा'[79] तथा 'मोहदी गुरु शेख बुरहानू। कालपि नगर तेहिक अस्थानू।'[80] शेष जीवनरेखाए तो रचना के लिए बहुत प्रासगिक नही हैं, पर वह निश्चित ही सूफी सतो के समान सीधा-सादा जीवन बिताते होंगे और अतिम दौर म उन्होने वैराग्य ग्रहण किया था 'भा बैराग बहुत सुख पाएउ।[81] जायसी का समय 1476 ई० स 1542 ई० स्वीकारा जाता है और कई विद्वान इसका समर्थन करते हैं।

'पद्मावत'

जायसी की रचनाए हैं 'पद्मावत', 'अखरावट', 'आखिरी कलाम', 'चित्ररेखा,' 'मसला', 'कहरनामा' अथवा 'महरी बाईसी'। पर उनकी कीर्ति का मुख्य आधार 'पद्मावत' है जिसके रचनाकाल के विषय मे कवि ने स्वय लिखा है 'सन नौ सै सत्ताइस अहै। कथा अरम्भ बैन कवि कहै।' 927 हिजरी अर्थात 1521 ई०। पद्मावत मे कुल 58 खड हैं। आरभ म 'स्तुति खड' और अत मे 'उपसहार खड'। कवि मसनवी शैली का अनुसरण करता हुआ आरभिक 'स्तुति खड' निर्मित करता है और विनम्र भाव से कहता है

औ विनती पडितन्ह सो भजा। टूट सवारेहु मेरएहु सजा ।।
हौं सब कविन्ह केर पछिलगा। किछु कहि चला तबल दइ डगा ।।
हिय भडार नग आहि जो पूजी। खोली जीभ तारा कै कूजी ।।[82]

यहा कवि विनयी है—कवियो अथवा पडितो के पीछे पीछे चलनेवाला। वह पडित जन से निवेदन भी करता है कि टूटे को सवार दें, और इसे सज्जित कर दें। पर उसे अपनी भावनाओ पर सपूर्ण विश्वास भी है, वह हृदय को रत्नभडार मानता है और यही उसकी पूजी है। कवि का आत्मविश्वास इन चौपाइयो के अत मे आए दोहे से व्यक्त होता है

मुहमद कवि जो प्रेम का ना तन रक्त न मासु।
जेइ मुख देखा तेइ हसा सुना तो आए आसु ।।[83]

'पद्मावत' म जिस पद्मावती की कथा को आधार बनाया गया है, उसके विषय

म कहा जा सकता है कि सभव है जायसी ने कुछ पात्र इतिहास से प्राप्त किए हो पर मुख्यतया उनके सामने लोकप्रचलित कहानी रही होगी। इन्हीं कथासूत्रो के सहारे उन्होंने अपनी कविकल्पना का उपयोग करते हुए अठावन खडो का प्रबध-काव्य रच डाला। एक अनिद्य सौंदर्य के रूप म पद्मावती अथवा पद्मिनी का सकेत इतिहासग्रथों म भी मिलता है और अलाउद्दीन के चित्तौड आक्रमण को भी इससे सबद्ध करके देखा जाता है। कहा जाता है कि अलाउद्दीन खिलजी न राणा रतनसिंह की विख्यात रूपवती रानी पद्मिनी को पाने की लालसा से 1303 ई० मे मेवाड पर आक्रमण किया। अलाउद्दीन ने छल से रतनसिंह को वदी वना लिया, पर गोरा बादल ने चतुराई से उन्हें फिर मुक्त करा लिया। भयकर सघर्ष हुआ जिसम राणा मार गए और पद्मिनी सती हो गई।[34] इस प्रकार 'पद्मावत' का पूर्वार्ध तो कल्पित है और सूफी चिंतन को प्रक्षेपित करता है, पर उत्तरार्ध मे इतिहास के कई सूत्र मिल जाते हैं। लगता है जायसी ने मूलत पद्मावती के चरित्र को तो लिया, कुछ कथासूत्र तलाश लिए और शेष अपनी कविकल्पना के सहारे निर्मित किया। इस कार्य मे लोककथाए उनकी सहायक रही होगी।

पारसमणि पद्मावती

जायसी का प्रयोजन एक ऐसी प्रेमकथा कहना है जो उनके आध्यात्मिक आशय को भी व्यजित करे। यदि 'तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा' आदि चौपाइयों को क्षेपक मानकर स्वीकार न किया जाए तो भी पद्मावत के पात्रो की चारित्रिक सभावनाओ को कवि ने इस सीमा तक विस्तृत किया है कि वे प्रतीकत्व पा जाते हैं। पद्मावती काव्य का केंद्रबिंदु है, उसके अभाव म प्रबधकाव्य लडखडा जाएगा। एक स अधिक बार उसका रूपवर्णन आया है और माना कि उपमान तथा प्रतीक निश्चित स हैं पर कवि इस दिशा मे सजग है कि लौकिक सौंदर्य वर्णन से ऐंद्रियता के स्थान पर अलौकिक छवि के सकेत मिलते रहे। जन्म खड म यौवन के द्वार पर पहुची पद्मावती का सौंदर्यचित्र है

भै उनत पदमावति बारी। रचि रचि बिधि सब कला सवारी॥
जग बेधा तेहि अग सुवासा। भवर आइ लुबुधे चहु पासा॥
बेनी नाग मलयगिरि पैठी। ससि माथे होइ दूइज बैठी॥
भौंह धनुक साधे सर फेरे। नयन कुरग भूलि जनु हेरे॥
नासिक कीर कवल मुख सोहा। पदमिनि रूप देखि जग मोहा॥
मानिक अधर दसन जनु हीरा। हिय हुलसे कुच कनक गभीरा॥
केहरि लक गवन गज हारे। सुर नर देखि माथ भुइ धारे॥
जग कोई दीठि न आवै, आछहिं नैन अकास।
जोगी जती सन्यासी, तप साधहिं तेहि आस॥[35]

'पद्मावती रूपी सौंदर्यवाटिका को विधाता ने अपने हाथों से बड़ी रागात्मकता से गढ़ा है। उसकी सुगंध से जग वेधित हो जाता है। माथे पर द्वितीया का चंद्रमा विद्यमान है और उपमान स्वयं लज्जित हो जाते हैं। सारा संसार विस्मय विमुग्ध है। देवता, मनुष्य सभी माथा टेकते हैं। जगत में कोई वैसा दिखाई ही नहीं देता, इसलिए योगी, यती, संन्यासी आकाश में दृष्टि लगाए इसी आशा से तपस्या और साधनारत हैं कि वह सौंदर्य मिल जाए।' हीरामन सुग्गा 'नखशिख खंड' में पद्मावती के सौंदर्य का वर्णन करते हुए प्रथम पंक्ति में ही अपनी असमर्थता स्वीकारता है 'का सिंगार ओहि बरनौं राजा। ओहिक सिंगार ओही पै छाजा।' पृथ्वी को धारण करनेवाले शेषनाग स्वयं उसकी केशराशि पर निछावर जाते हैं। वह केवल रूपमती ही नहीं गुणवती भी है—शास्त्र, व्याकरण, पिंगल, पुराण, वेद भेद सब जानती है। इसी के अनंतर जो 'प्रेमखंड' आता है, उसकी प्रथम पंक्ति है 'सुनतहि राजा गा मुरछाई। जानौं लहरि सुरुज कै आई।' सौंदर्य के श्रवण मात्र से अनुराग!

जायसी ने पद्मावती को 'पारसमणि' कहकर संबोधित किया है अर्थात जो जीव उसके संपर्क में आता है, वह स्वर्ण जैसा मूल्यवान हो जाता है। कवि को बराबर काव्यनायिका के विषय में यह ध्यान है कि वह साधारण लौकिक प्रिया नहीं है और उसका सूफी आशय कहीं खंडित न हो जाए, इसलिए वह आध्यात्मिक संकेत करता चलता है। वह जब केशराशि मुकुलित कर देती है तब 'बेनी छोरि झार जो बारा। सरग पतार होइ उजियारा।' *अथवा 'जग डोलै डोलत नैना हा।'* पद्मावती के सौंदर्य के प्रभाव की दृष्टि से 'मानसरोवर खंड' का अंतिम अंश विचारणीय है। जिस मानसरोवर के तट पर पद्मावती स्नान करने आई थी वह उसका संपर्क पाकर कृतार्थ हो गया जैसे आज जीवन सार्थक हो गया हो—जीव ने ब्रह्म का सान्निध्य पा लिया हो। समीक्षकों ने इसे बिंब प्रतिबिंब भाव कहकर संतोष करना चाहा है पर यहां कवि जायसी पद्मावती को आध्यात्मिक, अलौकिक छवि की पूर्णता पर पहुंचाकर, *उसे ब्रह्म अथवा खुदा का समर्थ प्रतिरूप* बना देते हैं और अपने सूफी चिंतन को भी काव्यात्मक अभिव्यक्ति देने में सफल होते हैं

कहा मानसर चाह सो पाई। पारस रूप इहां लगि आई।।
भा निरमल तिन्ह पायन्ह परसे। पावा रूप, रूप के दरसे।।
मलय समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपनि बुझाई।।
न जनौं कौन पौन लेइ आवा। पुन्यदसा भै पाप गवावा।।[66]

इसी क्रम में कवि कहता है कि पद्मावती को हसते हुए देखकर स्थिति यह हुई कि जिसने जैसा चाहा, वही रूप पा गया। जिसने उसके नेत्रों को देखा, वह कमल हो गया। शरीर की आभा से जल निर्मल हो गया। जिन्होंने उसे हसते हुए देखा, वे

हस के समान विवेकी हो गए। दशन ज्योति से मणि माणिक्य जनम गए । यहा पद्मावती बिंब है और सारा जगत उसी का प्रतिबिंब है। पद्मावती के निर्माण मे जायसी ने उच्चतम मूल्यो का उपयोग किया। वह अनिंद्य सुदरी ही नही है, प्रज्ञावान भी है, सकल्पवती और त्यागमयी भी। राजा रत्नसेन को प्राणदड मिला है, यह सुनकर वह कहती है जियँ तजियौ मरौं ओहि साथा।'

रत्नसेन की साधना

जीव के रूप म रत्नसेन सच्चा साधक है और उसके माध्यम से जायसी ईश्वर के प्रेम म निमग्न किसी सूफी फकीर, सच्चे आध्यात्मिक प्रेमी को चित्रित करना चाहते हैं। पद्मावती का रूपवर्णन सुनकर वह मूर्छित हो जाता है—पूर्वानुराग भाव से। प्रिय को पाने के लिए राजवैभव को तिलाजलि दे देता है और मार्ग के बाधा विघ्न की चिंता नही करता वह प्रेमपथ का पथिक है। 'जोगी खड' मे कवि कहता है

> चला भुगुति मागै कह साधि कया तप जोग।
> सिद्ध होइ पदमावति, जेहि कर हिये वियोग ॥[97]

जायसी रत्नसेन के द्वारा अपने प्रेमदर्शन को व्यजित करना चाहते है, इसीलिए उसे आध्यात्मिक वियोग की अनेक अतर्दशाओ से गुजारते हैं। राजा गजपति मार्ग की बाधाओं का बखान करते हैं पर वह उत्तर देता है 'जौं रे जिओ तो बहुरौं, मरौं त ओहि के बार।' जीवित रहा तो पद्मावती को पा लूगा और मृत्यु भी हुई तो उसी के द्वार पर। 'पार्वती महेश खड' म पार्वती के मन म इच्छा उपजती है कि रत्नसेन की परीक्षा लू देखौं कुवर केर सत भाऊ।' क्या इसका प्रेम पूर्णता को पहुच गया है? उन्होंने अप्सरा का रूप बनाया और उसे मुग्ध करने का अभिनय रचाने लगीं। योगी पद्मावती के वियोग म निमग्न था, उसके आसुओ से आशुतोष द्रवित हो उठे 'रोवत बूडि उठा ससारू। महादेव तब भएउ मयारू।' रत्नसेन पद्मावती को पाने के लिए दुर्ग पर आक्रमण भी करता है (राजा गढछेंका खड) पर उसका प्रेमभाव जागृत रहता है और हीरामन से वह कहता है 'कहहु कुसल अब पीतम केरा। प्राणदड की घोषणा के समय भी वह अविचलित है, केवल पद्मावती का ही स्मरण उसे आता है (रत्नसेन-सूली खड)। स्थिति यह है कि रत्नसेन जायसी के प्रेमदर्शन का सपूर्ण वाहक है और इसीलिए उसके चित्रण मे उन्होंने अपने भक्तिमार्गी व्यक्तित्व को सम्मिलित कर दिया है। 'जोगी खड' मे प्रेमपथ का वर्णन है, उसे पडित नही जानते, केवल अनुभव से ही उसे जाना जा सकता है

> पेम पथ दिन घरी न देखा। तब देखै जब होइ सरेखा ॥
> जेहि तन पेम कहा तेहि मासू। कया न रकत नैन नहि आंसू ॥
> पडित भूल न जानै चालू। जीउ लेत दिन पूछ न कालू ॥[98]

सती नागमती

'पद्मावत' मे नागमती को प्राय माया के रूप मे स्वीकार कर सतोष कर लिया जाता है। पर इस नारी पात्र के माध्यम से जायसी भारतीय नारी के पातिव्रत्य को भी प्रस्तुत करना चाहते हैं। वह रूपगर्विता है और हीरामन से प्रश्न करती है : 'है कोऊ एहि जगत मह, मोरे रूप समान।' जब रत्नसेन योगी हो जाता है, तब वह कहती है 'हमहू होय साथ जोगिनी।' इस सदर्भ मे वह सीता का उदाहरण देती है 'जहवा राम तहा सग सीता।' पर नागमती का पातिव्रत्य उस समय निखरता है, जब वह अपने स्वामी का स्मरण करते हुए सारी ऋतुए पार कर जाती है। 'नागमती-वियोग खड' का 'बारहमासा' महाकाव्य सबधी परपरा का पालन मात्र नही है। पद्मावती के मिलनचित्रो के 'षड्ऋतु वर्णन खड' के तत्काल बाद कवि वियोग का वर्णन करता है और नागमती स्वय अपनी पीडा की कथा कहती है। वह झुरि झुरि पीजर' हो गई है। वर्षा की उद्दीपनभरी ऋतु से यह वियोगगाथा आरभ होती है—मेघदूत के विरही यक्ष जैसी स्थिति। हर ऋतु म नागमती कष्ट भोगती है। वह अपने प्रिय के पास तक आ भी नही सकती—मार्ग मे अगम पर्वत, समुद्र, बीहड घने ढाक के जगल, ऐसी स्थिति मे वह विवश है, कहती है : 'किमि कै भेंटौ कत तुम्ह ? ना मोहि पाव न पाख।' वह भौरे और काग से विनय करती है कि पिय से यह सदेश कहना 'सो धनि विरहै जरि मुई, तेहिक धुआ हम लाग।' यदि मृत्यु के क्षणो मे भी उसने प्रिय के दर्शन पा लिए, तो जीवन सार्थक हो गया, इसीलिए उसने कभी कहा था कि 'कागा, सब तन खाइयो, चुन चुन खइयो मास। दो नैना मत खाइयो, पिया मिलन की आस।' यहां वह कहती है

> यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उडाव।
> मकु तेहि मारग उडि परै, कत धरै जह पाव ॥[69]

जायसी नागमती के विरह वर्णन के माध्यम से भारतीय पतिव्रता के अतरग चित्र उरेहना चाहते हैं, इसलिए उन्होने इस रानी को सहज मानवीय भूमि पर उतारा है। कई स्थलो पर ऊहात्मक पक्तियो के बावजूद कवि उसके वियोग की गहराई को व्यजित करता है, और सपूर्ण प्रकृति को उसम सम्मिलित करना चाहता है तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू बूढि उठे होइ राते ॥ राते बिंब भीजि तेहि लोहू। परवर पाक फार हिय गोहू ॥' जायसी ग्रथावली की भूमिका मे आचार्य शुक्ल ने नागमती के सती रूप को सराहा है। नागमती के वियोग मे शरीक होते हुए जायसी कहते हैं

> परवत, समुद, मेघ, ससि, दिनअर सहि न सकहिं वह आगि।
> मुहमद सती सराहिऐ, जरै जो अस पिउ लागि ॥[70]

विवेकी हीरामन

इन तीन प्रमुख पात्रों के अतिरिक्त हीरामन सुग्गा का महत्व इसलिए है कि वह जायसी के रहस्यवादी आशय की पूर्णता का सेतु है—विवेकसंपन्न गुरु है। उसके माध्यम से जीव-ब्रह्म (रत्नसेन-पद्मावती) का मिलन होता है। वह न हो तो कथाचक्र ही लड़खड़ा जाएगा। बुद्धिमान वह इतना है कि जब रानी नागमती उससे प्रश्न करती है कि सुग्गे, सच सच बतलाना, क्या इस संसार में मेरे रूप के समान कोई और भी है ? तो जायसी कहते हैं

सुमिरि रूप पद्मावति केरा । हसा सुआ रानी मुख हेरा ॥
जेहि सरवर महं हंस न आवा । बगुला तेहि सर हंस कहावा ॥[1]

और सचाई यह है कि सौंदर्य की सार्थकता तभी है जब प्रियतम का स्नेह मिल जाए 'सोनी सोई, कंत जेहि चहै।' हीरामन की प्रतिभा को जायसी 'नखशिख खंड' में उभारते हैं जब पद्मावती के सौंदर्यांकन में सुग्गा लगभग रागात्मक हो उठता है 'ओहिक सिंगार, ओही पैं छाजा। इतना ही नहीं, नासिका का वर्णन करते हुए वह लज्जित हो जाता है

नासिक देखि लजानेउ सूआ । सूक आइ बेसरि होइ ऊआ ॥
सुआ जो पियर हिरामन लाजा । और भाव का बरनौं राजा ॥[2]

पुष्प की सुगंध इस आशा से पद्मावती की नासिका के पास जाना चाहती है कि 'मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा।' जायसी ने हीरामन सुग्गे को पक्षी की स्थिति से ऊपर उठाकर पात्रत्व दे दिया है—वह पथप्रदर्शक है, आलोकदाता गुरु। जोगी खंड' में वह कहता है 'अगुआ सोई पंथ जेइ देखा।' वह जीव रत्नसेन का पद्मावती से मिलन कराता है (द्रष्टव्य पद्मावती सुआ-भेंट खंड)। इस सिल-सिले में 'राजा गढ़छेंका खंड' में उसके महत्वपूर्ण रोल का संकेत है। वास्तव में हीरामन जायसी का ज्ञानसंपन्न विवेकी गुरु है—जीव ब्रह्म को मिलानेवाला। अलाउद्दीन ऐतिहासिक पात्र होकर भी शारीरिक वासना का प्रतीक है, राघव-चेतन दुष्टता का और गोरा बादल शौर्य के।

प्रेमपंथ

जायसी सूफियों में उस चिंतन के व्याख्याकार हैं जो मानते हैं कि ईश्वर को प्रेम से पाया जा सकता है। उन्होंने खुदा को परमप्रिय के रूप में चित्रित किया और संपूर्ण रागात्मकता से उसे पाना चाहा। यह प्रेमभावना तन्मयता की उस सीमा पर पहुंचती है जहां 'मंमता धूमत रहे नाहीं तन की सार' (कबीर)। यह आत्म विस्मरण का जगत है। सूफियों की इस प्रेमकल्पना ने उन्हें उदार मानवीयता दी और जनता में लोकप्रिय बनाया। ब्राउन का विचार है कि सूफियों की प्रेमकल्पना

आध्यात्मिकता की चरमसीमा है जहा जीव समार की जडता से अपना सबध-विच्छेद कर खुदा से रागात्मक रिश्ता स्थापित करता है।[33] सूफियो के प्रेमचिन्तन म इसी कारण उनका रहस्यवाद सम्मिलित हो गया है और उसमे योगियो के साप्रदायिक तत्व लगभग गायब हैं— नियम, प्राणायाम, ध्यान, इला, पिगला, षटचक्र आदि की शास्त्रीयता यहा प्रभावी नही होती। इस उदार प्रेमकल्पना के कारण कट्टरपथी लोगो ने सूफियो का विरोध तक किया क्योकि इससे उनके मठाधीशत्व को खतरा था। लेकिन विद्वान स्वीकारते हैं कि सूफियो ने कुरान को नए सदर्भ दिए।[34]

सूफी साधक ईश्वरीय प्रेम को अतर्मुखी प्रक्रिया मानते हैं और उसे गहरे जाकर पाना चाहते है। लौकिक प्रेम (इश्क मजाजी) उनके लिए अलौकिक प्रेम (इश्क हकीकी) को प्राप्त करने का आरभिक चरण है। सूफी काव्य म इसके असख्य उदाहरण मिलते हैं। जायसी निराकारोपासना म आस्था रखते हैं, फिर भी उन्होने प्रेमभावना और रहस्यवाद को पूरी रागात्मकता से व्यजित किया है। यह शास्त्र से नही जाना जाता, यह तो अनुभूति का व्यापार है 'प्रेम घाव दुख जान न कोई। जेहि लागै जानै पै सोई।' राजा सुआ सवाद खड' म जायसी प्रेम-पथ के विषय म कहते हैं कठिन प्रेम, सिर देइ तौ छाजा अर्थात प्राण देकर, अह का विलीनीकरण करके ही प्रेम मिलता है 'प्रेम फाद जो परा न छूटा। जीउ दीन्ह पै फाद न छूटा।।' जायसी के लिए प्रेम का सपूर्ण व्यापार आतरिक रागात्मकता स सबद्ध है और उसम किसी बाह्याचार की अपेक्षा नही, शुद्ध भावना ही अलम् है पर विवेकसपन्न। प्रेमपथ 'दिन घरी' नही देखता और 'जेहि तन प्रेम कहा तेहिं मासू। कया न रकत, नैन नहिं आसू।'

जायसी को जहा कही अवसर मिलता है वह अपन प्रेमदर्शन का इजहार करत हैं पर उमे प्रसगो के भीतर से सहजभाव से लाने की चेष्टा करते हैं ताकि वह उपदेशात्मक, बाह्यारोपित न प्रतीत हो। यह प्रेम सरल नहीं, क्योकि इसके लिए वियोग की कठिन परीक्षा से गुजरना होता है। वास्तविकता यह है कि रत्नसेन भी पद्मावती को प्राप्त करने म तब समर्थ होता है जब वह सारी पीडाए झेल जाता है। चित्ररेखा' का दोहा है -

जब लगि बिरह न होइ तन, हिये न उपजइ प्रेम।
तब लगि हाथ न आव तप, करम, धरम, सत, नेम।।[35]

प्रेम के पथ पर जाते हुए रत्नसेन किसी अवरोध की चिंता नही करता क्योकि वह जानता है कि 'मेरे पास वह किरण है सतरगिनी, जो दर्द से गुजरे बिना खुलती नही है' (कुवरनारायण)। 'प्रेम खड' म जायसी ने लिखा है 'उपजी प्रेम पीर जेहि आई, परबोधत होइ अधिक सो आई।' प्रेम के मार्ग मे जब सूफी साधक ईश्वर प्राप्ति के लिए चल पडते हैं तब उन्हे कोई विचलित नही कर सकता।

'राजा गजपति सवाद खड' की चौपाई है · 'प्रेम समुद जो अति अवगाहा। जहा न वार, न पार, न थाहा।' और इसी के बाद के 'वोहित खड' मे कहा गया है · 'जहा पेम कह कूसल खेमा।' अर्थात प्रेम का मार्ग साधना का पथ है, खाला का घर नही, इसमे शीश देना होता है। जायसी के लिए वियोग प्रेमयात्रा की एक अनिवार्य स्थिति है—साधना का अविभाज्य अश। पार्वती-महेश खड' म कवि शिवजी से कहलाता है 'कहेन्हि न रोव बहुत तैं रोवा। अब ईसर भा, दारिद खोवा।' मनुष्य प्रेम के द्वारा बैकुठ प्राप्त करता है, नही तो मुट्ठी भर राख के अतिरिक्त है ही क्या ? 'मानुष पेम भयउ बैकुठी। नाहि त काह छार भरी मूठी।'

रहस्यवाद और अध्यात्म

जायसी को प्रेम की पीर का कवि' कहा जाता है जो सूफियो की 'हाल' दशा से सबद्ध है जिसम साधक बार बार अपनी शक्ति का उपयोग परमात्मा के ध्यान मे करता है। इस प्रकार परमात्मा के चिंतन मनन द्वारा वह उसके साक्षात्कार के लिए उत्कट प्रेम का अनुभव करता है। उसकी आखों से आसुओ की धारा बहती रहती है, वह बार बार उसी परम प्रियतम के नाम की रट लगाए रहता है और उसम उन्माद के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। उस समय उसके हृदय स जगत के सभी व्यापारो और विषयो का तिरोधान हो जाता है। इस प्रकार जब वह समस्त मन-प्राण से उस परम प्रिय की आकाक्षा करता है तब मानो उसके हृदय का दरवाजा खुल जाता है और उसम हर्षातिरेक और आनद का प्रवेश होता है। यह भावोल्लास (वज्द) की अवस्था कहलाती है।[36] जाहिर है कि जायसी की आध्यात्मिक प्रेमकल्पना उनके रहस्यवादी चिंतन से जुडी हुई है। इसम प्रचलित योगपद्धति के भी सकेत मिलते हैं, पर काव्य मे उन्ह ऐसी भावभूमि पर प्रस्तुत किया गया है कि उनमे साप्रदायिक गध न आए। सूफियो के रहस्यवादी चिंतन ने प्रेममय दृष्टि के कारण ज्ञानपथी कबीर तक को प्रभावित किया था। इस सदर्भ मे आचार्य शुक्ल ने कबीर, जायसी के विषय मे टिप्पणी करते हुए लिखा है कबीर म जो रहस्यवाद पाया जाता है, वह अधिकतर सूफियो के प्रभाव के कारण।" हिंदी के कवियो म यदि कही रमणीय और सुदर, अद्वैती रहस्यवाद है तो जायसी मे, जिनकी भावुकता बहुत ही ऊची कोटि की है।[37]'

जायसी म रहस्यवाद का सहज विकास सूफी प्रेमदर्शन की सहायता से सभव हो सका और इसम सूफियो की विस्तृत परपरा का योग है। सूफी दर्शन मे जीव का एकमात्र उद्देश्य है—खुदा के साथ एकाकार हो जाना। इसके लिए बाह्य आचारो की आवश्यकता नही, बल्कि खुद को पहचान लेना, ईश्वर को पा जाना है—आध्यात्मिक आत्मसाक्षात्कार। आत्मशुद्धि सादी जिंदगी से आती है और अपने अह के विनाश के लिए स्वय को भूलना पडता है, खास तौर पर इद्रियजगत

को। इसीलिए सूफी 'फना', 'वक्त' की स्थिति का उल्लेख करते हैं जिसमे मनुष्य की अपनी इद्रियजन्य कामनाए समाप्त हो जाती हैं और वह अल्लाह मे लीन हो जाता है।[93] सूफी साधको म राबिया अल-अदाविया (आठवी शती) प्रेममूलक रहस्यवाद के लिए बहुत प्रसिद्ध है। उसने प्रेम के द्वारा ईश्वर प्राप्ति को सर्वोपरि महत्व दिया है।

जायसी म ऐसे भी स्थल हैं जब हठयोगियो जैसा वर्णन मिलता है, जैसे 'सिहल द्वीप-वर्णन खड' म 'नव पौरी बाको नवखडा। नवौ जो चढ़ै जाइ बरम्हडा।' अथवा 'पौरी नवौ बज्र कै साजी' अर्थात शरीर के नौ द्वार। यहीं पर जायसी सूफी साधना के चार चरण शरीअत, तरीकत, मारिफत, हकीक्त का सकेत करते हैं

नवौ खट नव पौरी, औ तह बज्र-केवार।
चारि बसेरें सो चढ़ै, सत सौं चढ़ै जो पार।।[94]

इसी के तत्काल बाद की पक्ति म कहा गया है 'नव पौरी पर दसव दुवारा' जिससे कवि 'दशम द्वार' अथवा ब्रह्मरध्र का सकेत करना चाहता है। सिंघलगढ मे केवल भौतिक ऊचाइया नही हैं, उसम ब्रह्मरूपिणी पद्मावती वास करती है। इसीलिए सूर्य चद्रमा भी दुर्ग को बचाकर निकल जाते हैं नही तो उनका अश्वरथ चूर चूर हो जाएगा। रहस्यवादी सकेत की पुष्टि के लिए जायसी लिखते हैं 'हिय न समाइ दीठि, नहिं जानहु ठाढ सुमेर।' ब्रह्म को नापना असभव है क्योकि वह असीम, अनत है। जायसी का रहस्यवाद प्रचलित योगमार्ग के कुछ सकेत मात्र करता है, पर उसका मूल प्रयोजन प्रेम के माध्यम से ईश्वर की प्राप्ति है, जिसे समीक्षक 'भावात्मक रहस्यवाद' कहते हैं। ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है और इस परोक्ष सत्ता का आभास प्रकृति के कण कण से प्राप्त होता है। प्रकृति के माध्यम से उसके सकेत जायसी ने बराबर दिए हैं, बल्कि स्थिति यह है कि लौकिक वर्णनो के अवसर पर भी उन्हे एहसास है कि कही मूल आध्यात्मिक आशय मे बाधा न उपस्थित हो, इसलिए वह जहा कही अवसर पाते हैं अदृश्य सत्ता की ओर इशारा कर देते हैं। 'मानसरोवर खड म जलाशय की आध्यात्मिक प्रतिक्रिया इसका प्रमाण है चरणो के स्पर्श से मन निर्मल हो गया—व्यक्तित्व रूपायित हो गया। सारी तपन मिट गई—प्राण जुड़ा गए, पाप खत्म और पुण्यक्षण का उदय—लगभग जीव ब्रह्म के मिलन की रहस्यवादी परिणति।

रहस्यवाद से प्राय धार्मिक, साप्रदायिक गध आती रही है और आरभ मे अरब, फारस म जो *मसनविया* रची गईं, वे धार्मिक आधार लेकर चली, पर बाद म ऐसी सूफी प्रतिभाए आईं जिन्होने उसे भावात्मक दिशा दी जैसे राबिया, जून जून, हुसैन बिन मसूर अल हल्लाज, जिसे 922 ई० मे प्राणदड मिला क्योकि उसने 'हक हक अनल हक' कहा था कि 'खुदा मैं हू।' जायसी पद्मावती का रूप

वर्णन करते हुए बार-बार उसकी अलौकिकता का संकेत करते हैं जब वह वेणी खोल देती है तो स्वर्ग-पाताल मे अंधकार भर जाता है। उसके ललाट पर 'पारस जोति' है और द्वितीया का चद्रमा अथवा दूज का चाद, जो इस्लाम मे बडा पूज्य माना गया है। जायसी ने रहस्यवाद की भावात्मक अभिव्यक्ति के लिए एक सपूर्ण प्रतीकजगत निर्मित किया जिसमे कुछ प्रतीक सूफी परपरा से प्राप्त किए गए हैं और शेष उन्होंने लोकजीवन तथा प्रकृति के व्यापक क्षेत्र से लिए हैं ताकि वे काव्योपयोगी हो सकें।

लोकजीवन और समन्वित सस्कृति

जायसी मध्यकाल मे सास्कृतिक समन्वय के प्रतीक रूप म उपस्थित हैं, यही स्थान कबीर का है। पर एक की दृष्टि प्रेममूलक है, जबकि दूसरा अधिक जुझारू है। जायसी की प्रेमकल्पना, आध्यात्मिक सकेत, रहस्यवादी दृष्टि सब सूफी दर्शन का आधार लेते हुए भी लोकोन्मुखी हैं। उन्होंने हिंदू प्रेमकहानियो के माध्यम से भारतीय लोकजीवन को व्यक्त करने की चेष्टा की और राजा रत्नसेन की कथा लेकर उसका मानवीकरण किया। पात्रो को सहज मानवीय भूमि पर उतारकर उनका चित्रण करने के मूल म जायसी की सास्कृतिक चेतना निश्चित रूप से सक्रिय है। वह पडित होने का दावा नही करते और न शास्त्र की दुहाई ही देते हैं, पर उन्होंने प्रेम के उस सहज मार्ग का प्रचार किया जिस पथरेखा पर चलकर सभी मुक्ति के द्वार तक पहुच सकते हैं। इसमे निवृत्ति, वैराग्य, इंद्रियदमन का वह आग्रह नही कि वनवासी हुए बिना सिद्धि असभव हो जाए। 'पद्मावत' मे यह लोकोन्मुखी सास्कृतिक दृष्टि सजग है और कवि प्रकृति के विस्तृत रगमच पर घटनाओ को घटित होते दिखाता है, तथा उसे मानव सवेदनो का सहभोक्ता बनाता है। नागमती के वियोग मे प्रकृति सम्मिलित है और पद्मावती की अलौकिक रूपराशि पर पक्षी विस्मय विमुग्ध

> चकई बिछुरि पुकारै, कहा मिलौं हो नाह।
> एक चाद निसि सरग मह, दिन दूसर जल माह॥[100]

जायसी ने काव्य म लोक सस्कारो को ग्रहण किया और ऐसा लगता है कि ग्राम-जीवन, विशेषतया किसानों की जिंदगी को उन्होंने निकट से देखा था, क्योकि गाव के असख्य दृश्य सकेत से यहा आ गए हैं। सावन मे झूले पर झूलती हुई सखिया, भादो मे बहते हुए नाले परनाले, फागुन मे जलती आग की तरह फूलती ढाकवनी आदि जिस प्रकृति के दृश्य लाते हैं, वह ग्रामसस्कृति की समीरी है। जायसी भारतीय जीवन के सस्कारो तथा उत्सवों—विवाह, भोज, होली, दीवाली, वसत आदि का वर्णन करते हैं लोकजीवन के अपने निकट परिचय का उपयोग करते हुए। 'वसत खड' मे बजते हुए ढोल, दुदुभी, भेरी, मादर, तर,

झाझ लोकजीवन को उजागर करते हैं—वह राजमहल की ऊंची दीवालों के भीतर का राजसी वसंतोत्सव अथवा नौरोज नहीं है जिसमें सामंत, सभासद, अमीर-उमरा शरीक होते हैं, बस। लोकजीवन की पहचान जिस कवि में गहरी होती है, वह उसे मार्मिकता के साथ प्रस्तुत करना जानता है। 'मानसरोदक खंड' में सखियां कहती हैं कि नैहर में चार दिन रहना है। जब तक पिता का राज है, खेल खेल लो। फिर यह सुखद क्षण लौटकर नहीं आएगा। 'कित आवन पुनि अपने हाथा। कित मिलि कै खेलब एक साथा।' सास, ससुर, ननद के कठोर नियंत्रण में आजादी कहां? यह मध्यकालीन भारतीय ग्रामजीवन की तसवीर है। इसी क्रम में जादू टोना, टोटका ज्योतिष तथा अनेक लोकप्रचलित अंधविश्वासों को जायसी ने काव्य में स्थान दिया है—लोकजीवन को प्रामाणिकता देने के लिए। स्वयं कवि की आस्था इनके साथ नहीं है क्योंकि वह तो केवल प्रेमपथ में विश्वास रखता है। 'जोगी खंड' के आरंभ में कहा गया है 'प्रेम पंथ दिन घरी न देखा', पर आगे सगुन वर्णित हैं विचारनेवालों ने आगे बढ़कर सगुन देखा—चांदी के पात्रों में दही, मछली। जलभरा कलश लेकर आती तरुणी, मालिन का मौर, खंजन सर्प के मस्तक पर विराजमान, दाहिनी ओर हिरन—आठों महासिद्धियों को दिलानेवाले मांगलिक सगुन।[101]

जायसी जनजीवन से जुड़े हुए कवि हैं, यद्यपि प्रेममार्गी, रहस्यवादी परिवेश के कारण वह कबीर के समान उद्धत नहीं हो पाते और इसीलिए उन्हें 'कबीरा' की तरह गाया नहीं जाता। जिन लोगों ने पद्मावत के लोकतत्व पर कार्य किया है, उनका कथन है कि जायसी की यह कृति विभिन्न प्रकार के लोकतत्वों से अभि-मंडित है। कथा-कहानी काव्यशिल्प (भाषा, शैली, छंद), आचार-विचार आदि नाना दृष्टियों से यह रचना लोकोन्मुख अधिक है और शास्त्रीय कम।'[102] यह जायसी की लोकोन्मुखी सांस्कृतिक चेतना है जो मध्यकाल में जातीय सौमनस्य तथा सांस्कृतिक समन्वय का जोरदार प्रमाण है। इससे स्पष्ट है कि दोनों जातियां एक दूसरे से सांस्कृतिक आदान प्रदान की भूमि से गुजर रही थीं और एक नई समन्वित संस्कृति की रचना की दिशा में पहल हो चुकी थी।

सूफी प्रदेय

सूफियों की मुख्य रचनाएं प्रेमाख्यानों के रूप में प्राप्त होती हैं, जिनकी भारतीय परंपरा को विद्वान काफी प्राचीन भी मानते हैं और उसे वैदिक युग तक ले जाते हैं। यों भी किसी विधा का सूत्र वेदों में तलाशना सुविधाजनक हो सकता है, यद्यपि सदैव उसे प्रासंगिक नहीं कहा जा सकता। माना कि सूफियों से पूर्व भी प्रेमाख्यानों की रचना होती रही है और ऐसे भी प्रेमाख्यान सिरजे गए जो गैर-सूफी कवियों द्वारा निर्मित हुए, पर सूफी कवियों ने प्रेमाख्यानों को उनके चरम

विकास पर पहुचा दिया। उत्तर और दक्षिण दोनो क्षेत्रो मे इनकी सृष्टि की गई, इसका सकेत किया जा चुका है। विद्वानो ने इनकी एक लबी सूची दी है। स्थिति यह है कि प्रेमाख्यानो की परपरा आधुनिक काल मे लडखडा जरूर गई थी, पर रीवा के रामशरणसिंह ने उसके नवीनतम दिशासधान की दिशा मे महत्वपूर्ण कार्य किया है—ख्वाजा अहमद की 'नूरजहा'। ख्वाजा अहमद अवध के प्रतापगढ इलाके मे उन्नीसवी-बीसवी शती के सधिकाल मे भी क्रियाशील थे और 1905 ई० म उनका निधन हुआ। उन्होंने लबी आयु पाई थी। सभवत उनका जन्म 1826 ई० के आस पास हुआ था। 'नूरजहा' के तीन मुख्य कथाभाग किए जा सकते हैं कथा मे ईरान के शहशाह मलिकशाह का उल्लेख आरभ मे ही है। उसकी रानी है—नूरताव, जिसे पीर की दुआ से खुरसैदआलम नामक पुत्र हुआ। खुरसैद एक सुदरी को स्वप्न मे देखकर पागल सा हो गया। जिसे उसने देखा था, वह थी खुरान नगर के शहशाह खवरशाह की सुदर कन्या—नूरजहा। खुरसैद और नूरजहा की प्रेमकथा ही इस काव्य का आधार है जो प्रेमाख्यानक काव्य-परपरा की नवीनतम उपलब्धि है। निश्चित ही सूफियो ने काफी सख्या म प्रेम कहानियो की रचना की और यह उनका अपना क्षेत्र है। सूफी प्रेमाख्यानो की परपरा मे मुल्ला दाऊद के 'चदायन', कुतवन के 'मृगावती', मझन के 'मधुमालती', उसमान के 'चित्रावली', शेखनबी के 'ज्ञानदीप', कासिमशाह के 'हसजवाहर', नूरमुहम्मद के 'इन्द्रावती' आदि का महत्व सभी ने स्वीकारा है।

सूफी काव्य ने भारत मे हिंदू मुस्लिम सौमनस्य का महत्वपूर्ण कार्य किया और उनका प्रेमदर्शन इसी दिशा मे एक ईमानदार प्रयत्न है। मध्यकालीन भोगवाद के विरोध मे अपने सादे-सरल जीवन को जनता के समक्ष प्रस्तुत कर, वे लोकप्रिय हुए। उन्होंने प्रचलित लोकभाषा और मुहावरे म लोकजीवन के सवेदनो को अभिव्यक्ति दी। डा० असदअली का कथन है कि 'सूफियो ने मनुष्य को एक दृष्टि से देखा तथा सबके दिलो मे एक खुदा का नूर जगाने का प्रयत्न किया। उनकी कथनी-करनी एक थी, सादा जीवन व्यतीत करते थे तथा अपने अनेक गुणो के कारण वे हिंदू-मुसलमान दोनो वर्गों मे समान आदर की दृष्टि से देखे जाते थे।'[103] सूफियो ने अपनी रचनाओ से कबीर जैसे फक्कड कवियो को प्रभावित किया और उनकी प्रेमभावना का प्रभाव जनता मे देखा जा सकता है। 'सूफी प्रेमाख्यानो ने भारतीय जन जीवन से पोषण तत्व लिया और उनका उद्देश्य अपना सदेश लोक जीवन मे प्रसारित करना था, अत उन्होने अपने काव्यो को भारतीय वातावरण म प्रस्तुत किया।'[104] उदारचेता कवियो के रूप मे सूफियो का मध्यकालीन रचना मे विशिष्ट प्रदेय है और वे देश के सास्कृतिक समन्वय का सर्वोत्तम प्रतिनिधित्व करते हैं।

सतवाणी

कबीर और जायसी हिंदी भक्ति काव्य की समन्वयशील प्रवृत्तियो का प्रतिनिधित्व करते है। जिसे सतो की निर्गुनिया काव्यधारा कहा जाता है, वह कबीर मे पूर्णता प्राप्त करती है और सूफी प्रेमकाव्य जायसी मे अपने सर्वोत्तम पर पहुचता है। किंतु जैसा कि कहा जा चुका है इन दोनो के व्यक्तित्व को केंद्र मे रखकर रचना का एक पूरा का पूरा दौर हिंदी काव्य मे आ समाया। कबीर की विद्रोही चेतना ने परवर्ती रचनाधारा को प्रेरित किया, इसमे सदेह नही और सिक्ख गुरु नानक (1469-1538 ई०) तक पर उनका गहरा प्रभाव था। नानक ने 'एक ईश्वर' का प्रचार किया और मूर्तिपूजा का विरोध कर निराकार को महत्व दिया तथा हिंदू-मुस्लिम ऐक्य की दिशा मे कार्य किया। श्री गुरुग्रथ साहिब मे अनेक सतो की बानियो का सग्रह नानक की व्यापक दृष्टि का परिचायक है। रामानद, कबीर से प्रभावित सतो की एक लबी परंपरा है धरमदास, मलूकदास, दादूदयाल, धरणीदास, हरिदास, स्वामी प्राणनाथ, रज्जब, सुदरदास, दरिया साहब, चरनदास, अक्षर-अनन्य, भीखा, गरीबदास, सहजोबाई, सहजानंद, पलटूदास आदि आदि। भक्ति-काव्य के केंद्र मे रामानद का उदार व्यक्तित्व है और उनके बारह मुख्य शिष्यो की सूची है कबीर, सेन नाई, पीपा, रैदास, धन्ना, अनतानद, सुरसुरानद, नरहर्यानद, योगानद, भवानद, सुखानद, गालवानद। रामानद की परपरा मे सबसे प्रखर हुए कबीर और सतकाव्य पर उनका प्रभाव असदिग्ध है।

सूफी काव्यधारा भी निराकार उपासना से सबध रखती है, पर उसे अरब-फारस के आयातित चिंतन से भी सबद्ध करके देखा जाता है। सूफी कवि मुसलमान हैं और उन्होंने अपने व्यक्तित्व को भारतीय जनजीवन मे सयोजित किया, यह उनके लिए कम महत्वपूर्ण नही। उन्होने कतिपय सत कवियो के समान खडन और प्रहार का मार्ग नही अपनाया, बल्कि प्रेम का प्रचार किया। पर दोनो काव्य-धाराओ के प्रयोजन मे अधिक विरोध नही। दोनो ही ईश्वर की एकता मे विश्वास रखते हैं और बाह्याचार की अपेक्षा अत करण की शुद्धता का आग्रह करते हैं। उनमे ज्ञान प्रेम की सम्मिलित भूमि है, यद्यपि कभी एक का आग्रह बढ जाता है, कभी दूसरे का। जाति-पाति का विरोध दोनो मे मिलता है और सास्कृतिक सौमनस्य के क्षेत्र मे इन निराकारोपासक कहे जानेवाले कवियो का विशिष्ट प्रदेय है। मध्यकालीन परिवेश मे भक्तिकाव्य के माध्यम से यह उनका महत्वपूर्ण योग-दान है। उनकी सामाजिक चेतना जागृत एव उदार है तथा वे अपने सास्कृतिक दायित्व का निर्वाह करना जानते हैं। भक्तिकाव्य की चर्चा करते हुए उनके सामाजिक प्रदेय को सदैव स्वीकारा जाता है और माना जाता है कि उनमे सास्कृतिक सौमनस्य प्रतिफलित हुआ है।

साकार उपासना

ईश्वर की अवतारी कल्पना को पौराणिक कथाओं ने व्यापकत्व दिया और उन्हें केंद्र में रखकर अनेक प्रकार के लीलागान की परंपरा को गति मिली। 'महाभारत' में 'शांतिपर्व' के आरंभ मे चार मुख्य अवतार हैं : नर, नारायण, हरि और कृष्ण। पर भंडारकर के अनुसार क्रमशः इस सूची मे वृद्धि हुई : शूकर, नृसिंह, वामन, भृगुवंशराय, दाशरथि राम तथा कंस के नाश के लिए अवतरित वासुदेव कृष्ण। फिर इस तालिका मे हंस, कूर्म और मत्स्य तथा अंत मे कल्कि जोड दिए गए।[105] इस प्रकार दशावतारों की कल्पना की गई और विद्वानों का मत है कि मध्यकाल मे प्रायः यही क्रम आंशिक परिवर्तनों के साथ प्रचलित रहा जिसे सामूहिक अवतार परंपरा कहा गया है। अवतारों की संख्या मे वृद्धि भी हुई और 'भागवत' मे असंख्य अवतारों की कल्पना की गई : गहरे सरोवर के सहस्र छोटे नालों की तरह श्रीहरि के असंख्य रूप।[106] इसी क्रम मे कहा गया है—शेष अवतार अंशावतार अथवा कलावतार पर श्रीकृष्ण स्वयं भगवान।[107] अवतारों की संख्या में वृद्धि होती रही पर जहां तक हिंदी भक्तिकाव्य का संबंध है वह राम और कृष्ण को केंद्र में रखकर निर्मित हुआ, शेष का समावेश इन्हीं के भीतर कर लिया गया तथा पौराणिक आख्यानों का उपयोग भी इन्हीं की जीवनरेखाओं मे हुआ। इस संदर्भ मे कपिलदेव पांडेय का विचार है कि हिंदी साहित्य मे 'भागवत' के चौबीस अवतारों का विशेष प्रचार हुआ, विशेषतया सूरदास मे :

> इन कवियों द्वारा किए गए विस्तृत वर्णन के अतिरिक्त संतों मे रामानंद और रज्जब आदि तथा सगुण भक्तों मे बैजू, सयनदास, नाभादास आदि ने केवल चौबीस अवतार शब्द का प्रयोग किया है और नाम सामान्यतः गिनाया है। इससे प्रतीत होता है कि चौबीस अवतार शब्द भी दशावतारों के सदृश रूढ़ि के रूप मे प्रचलित हो गया था।[108]

रामकाव्य

राम और कृष्ण की अवतारी कल्पना वैष्णव धर्म के विकास मे एक महत्वपूर्ण सोपान है। इन दोनों को विष्णु का साकार रूप स्वीकार कर लेने से काव्यरचना को एक नई गति और दिशा मिली। कई बार अतिरिक्त बाह्याचारों के कारण उसमे विकृतियां भी आईं और इसीलिए निराकार का आग्रह करते हुए, उसका विरोध भी हुआ। किंतु राम और कृष्ण काव्यधारा निश्चित ही जनता मे कहीं अधिक स्वीकार्य हुई तथा आधुनिक काल तक बदले हुए रूप मे उसका क्रम चलता रहा। रामकथा मे वाल्मीकि रामायण को आदिकाव्य स्वीकारा जाता है और सभी परवर्ती काव्य किसी न किसी रूप मे उससे प्रभावित हैं। विद्वानों ने स्वीकारा

है कि उत्तरभारत मे रामभक्ति का व्यापक प्रचार-प्रसार रामानंद के द्वारा हुआ। स्थिति यह है कि रामानद का व्यक्तित्व लगभग सपूर्ण भक्तिकाव्य को प्रभावित करता है और सतकाव्य ने उनसे सर्वाधिक प्रेरणा ली, जो निराकारोपासना का समर्थक है। इस प्रकार उन्होने निराकार, साकार दोनो प्रकार के भक्तकवियो को प्रभावित किया और कृष्णमार्गी कवियो पर जिस प्रकार वल्लभाचार्य की छाया है, उसी प्रकार रामकाव्य पर रामानंद का व्यक्तित्व प्रभावशील है। जन-भाषाओ की सक्रियता राम-कृष्णकाव्य को ही नही, सपूर्ण भक्तिकाव्य को नए आयाम देती है।

रामकाव्य की लबी सूची बनाई जा सकती है और अनेक ज्ञात-अज्ञात, ख्यात-अल्पख्यात कवि गिनाए जा सकते हैं। उन लोगो ने भी राम को लेकर काव्यरचना की है, जिन्हे अन्य काव्यधाराओ मे परिगणित किया जाता है, विशेषतया कृष्ण-काव्य मे। इस सदर्भ मे प्राय सूर की राम-कथा (भागवत मे भी) का उल्लेख किया जाता है। तुलसीदास ने भी 'श्रीकृष्ण गीतावली' मे इकसठ पदो मे कृष्ण-कथा का वर्णन सकेत से किया। इससे प्रमाणित होता है कि राम और कृष्ण के व्यक्तित्व को केंद्र मे रखकर प्रवाहित होनेवाली काव्यधाराओ मे वैसी टकराहट नही थी, जैसी कि निराकार-साकार के प्रश्न को लेकर बताई जाती है। तुलसीदास रामकाव्य के शीर्षस्थ कवि हैं और भक्तिकाव्य उनकी रचनाओ मे सर्वोत्तम उन्मेष प्राप्त करता है। अनेक दिशाओ और कोणो से उन्हे देखा-परखा जाता है, पर उनका सास्कृतिक प्रदेय असदिग्ध है। सचाई यह है कि एक ओर तुलसी की सर्जन-शीलता ने रामकाव्य को नए आयाम और विस्तार दिए, दूसरी ओर उन्होंने उसकी सभावनाओ को इस सीमा तक नि शेष कर दिया कि परवर्ती कवियो को उसमे नई सभावनाए जगा पाने मे कठिनाई हुई। यो रामकाव्य सस्कृत, हिंदी के अतिरिक्त बंगला, तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम आदि मे भी रचा गया जिसमे तमिल कवि कंबन की 'कबरामायण' (बारहवी शती), तेलुगु कवि रगनाथ की 'द्विपद रामायण' (तेरहवी शती), बंगला कवि कृत्तिवास ओझा की 'कृत्तिवास रामायण' (पद्रहवी शती), मराठी मे एकनाथ की 'भावार्थ रामायण' (सोलहवी शती) आदि प्रसिद्ध हैं। आदिकवि वाल्मीकि की रचना के अनंतर अज्ञात रचनाकारो की दो कृतिया 'अध्यात्म रामायण' तथा 'हनुमन्नाटक' (संभवत दसवी शती), सस्कृत मे जयदेव का 'प्रसन्नराघव नाटक' (बारहवी-तेरहवी शती) आदि ने हिंदी रामकाव्य को प्रभावित किया। इस प्रकार भारतीय भाषाओ मे विपुल रामकाव्य रचा गया।

कृष्णकाव्य

राम की तुलना मे कृष्ण का व्यक्तित्व निश्चित ही अधिक बहुरगी कहा जाएगा

और अनेक प्रकार की लीलाए उनके चरित्र के साथ जुडी हुई हैं। वासुदेव और कृष्ण के व्यक्तित्व का सयोजन होने से कृष्णभक्ति को व्यापक प्रसार मिला तथा 'महाभारत' ने उनके चरित्र के विषय मे इतनी सामग्री दे दी कि रचनाकारो के लिए उन्हें लेकर काव्यरचना करना किंचित सुगम हो गया। 'भागवत' ने कृष्णभक्ति को व्यापकता देने मे सबसे महत्वपूर्ण रोल अदा किया। स्वय 'भागवत' मे राधा का प्रत्यक्ष उल्लेख नही है, पर कृष्ण के साथ राधा का सयोजन होने पर कृष्णभक्ति मे माधुर्य-शृगार के तत्व विकसित हुए। इस प्रकार कृष्ण का एक रूप 'महाभारत' तथा 'गीता' के योगेश्वर कृष्ण का है, दूसरा 'भागवत' के लीलाकार कृष्ण का, जिनकी भक्ति मे गोपिकाए लवलीन है। 'विष्णुपुराण', 'ब्रह्मपुराण' मे कृष्ण की कथा विस्तार से वर्णित है और 'ब्रह्मवैवर्त' मे कृष्णप्रिया राधा का चरित्र उभारा गया है तथा राधा कृष्ण की लीलाओ का विशद वर्णन यहा प्राप्त होता है। राधा-वल्लभ सप्रदाय मे इन्हे प्रमुखता मिली और रासलीला की कल्पना तक की गई।

कृष्ण की लीलाभूमि ब्रजमडल थी यद्यपि उनका अवसान द्वारकापुरी मे बताया जाता है। इसीलिए ब्रजमडल कृष्णकाव्य का प्रमुख केंद्र बना और भारत की लगभग समस्त भक्तिचेतना उससे सबद्ध हो गई। ईसा की प्रारभिक शताब्दियो मे दक्षिण मे कृष्णभक्ति का सूत्रपात हुआ और यद्यपि राम अथवा कृष्ण के चरित्र की कथा क्रमबद्ध रूप मे उस समय उपलब्ध नही होती, पर कृष्णभक्त आलवार सतो के 'प्रबन्धम्' मे कृष्ण की लीलाए प्राप्त हो जाती हैं। इस सदर्भ मे पेरियाल-वार (छठी शती) द्वारा वर्णित कृष्ण की बाललीलाओ के अतिरिक्त "कृष्ण की किशोर लीलाओं और गोपी प्रेम का भी पर्याप्त विस्तार से वर्णन 'प्रबन्धम्' मे मिल जाता है।"[10]

सस्कृत मे जयदेव ने 'गीतगोविंद' के माध्यम से राधा-कृष्ण की लीलाओ का सरस गान किया (बारहवी शती) और गीतकाव्य को उसकी पूर्णता पर पहुचा दिया। एक प्रकार से यह कृष्ण-राधा के व्यक्तित्व का सहज मानवीकरण है, अन्यथा ऐसा उन्मुक्त शृगार सभव न था। यहा राधा-कृष्ण के घनिष्ठ मिलनचित्र हैं—कोमल मलय समीर मे तन्वगी की तरह लहराती हुई ललित लता—कुज कुटीर मे कूकती कोयल, मधुकरसमूह। सरस वसत में विहार करते कृष्ण और युवतियो को कामपीडा से त्रस्त करता कामदेव। हिंदी के आदिगीतकार मैथिल-कोकिल विद्यापति ने 'गीतगोविंद' से इतनी प्रेरणा पाई कि उन्हे 'अभिनव जयदेव' कहा गया। पद्रहवी शती मे विद्यापति ने राधा-कृष्ण के मिलन प्रसंगो को काफी खुले ढग से प्रस्तुत किया। यह प्रश्न केवल अकादमिक महत्व का रह जाता है कि उनमें भक्ति के तत्व किस मात्रा मे हैं, अथवा वह भक्तकवि हैं या शृगारी। इस गीतसृष्टा के पास सवेदनशील सौंदर्यबोध है और राधा का रूपचित्र निर्मित करने मे वह इसका मार्मिक परिचय देते हैं -

जहिं जहिं पग जुग धरई, तहिं तहिं सरोरुह भरई।
जहिं जहिं झलकत अंग, तहिं तहिं बिजुरि तरंग।
कि हेरल अपरूप गोरि, पइठल हिय माहिं मोरि।
जहिं जहिं नयन विकास, तहिं तहिं कमल परगास।
जहिं लघु हास सचार, तहिं तहिं अमिय विथार।
जहिं जहिं कुटिल कटाख, तहिं मदन सर लाख।
हेरइति से धनि थोर, अब तिन भुवन अगोर।
पुनु किए दरसन पाव, दय मोहे इह दुख जाव।
विद्यापति कह जानि, तव गुने दैवब आनि।[110]

विद्यापति की राधा सहज कृष्णप्रिया है, उसके सौंदर्यांकन मे कवि अकृपण है और अकुंठित भी। शैशव से यौवन मे प्रवेश करनेवाली सुदरी अब खुलकर नही हसती और चरणो की चचलता नेत्रो को मिल गई है 'चरन चपल गति लोचन पाव।' क्षण क्षण मे नेत्रो के कोने सक्रिय रहते हैं—कटाक्षभरी आखें। वक्ष का आचल खिसक खिसक जाता है और केशो के बीच शरीर की कांति ऐसी झलक उठती है, जैसे मेघमाल के बीच विद्युतरेखा। राधा कृष्ण को नेत्रो से पीने के लिए व्याकुल है पर लाज के मारे निमिषभर आधे लोचन ही देख सकी। उसकी वियोगदशा का वर्णन विद्यापति ने पूरी रागात्मकता से किया है—नयनो से अविरल झरते अश्रु। 'अनुखन माधव माधव सुमिरइत सुदरि भेलि मधाई'—कृष्ण का स्मरण करते करते राधा कृष्णमय हो जाती है—प्रिय से एकाकार! आदिकाव्य और भक्तिकाव्य के लगभग सधिस्थल के कवि विद्यापति मे भक्ति, शृगार का सम्मिलित स्वर है और उन्होने बगला वैष्णवकाव्य तक को प्रभावित किया,[111] चैतन्य तथा गौडीय वैष्णव सप्रदाय मे जिसका रसिक प्रकाशन हुआ।

ब्रजमडल

कृष्ण का सबध ब्रजमडल से है इसलिए कृष्णकाव्य वहा चरमोत्कर्ष प्राप्त करता है। पद्रहवी शती मे अत मे जन्मे वल्लभाचार्य चैतन्य के समकालीन थे और कृष्ण-काव्य को गति देने मे इन दोनो भक्त आचार्यों का योगदान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। वल्लभ के चितन पक्ष को शुद्धाद्वैत कहा जाता है और भक्तिमार्ग को पुष्टि-भक्ति। उन्होने बालक कृष्ण को अपना इष्ट स्वीकारा और अष्टछाप के समस्त कवियो के प्रेरणास्रोत बने सूरदास (1478-1583 ई०), कुभनदास (1468-1593), परमानददास (1493-1584), कृष्णदास (1946 1579), गोविंदस्वामी (1505-1585), नददास (1513-1583), छीतस्वामी (1516-1585) तथा चतुर्भुजदास (1518-1585)। कृष्णकाव्य मे सूर उसी प्रकार सर्वोपरि हैं, जैसे रामकाव्य मे तुलसीदास। सूर के बाद प्राय नददास का नाम लिया जाता है

जिन्होंने 'रासपंचाध्यायी' में रासलीला का वर्णन किया और 'भंवरगीत' में गोपी-विरह का।

ब्रजमंडल में कृष्णकाव्य का निरंतर विकास हुआ और कृष्ण की लीलाभूमि होने के कारण यह स्वाभाविक भी था। वहां कृष्ण, राधा के व्यक्तित्व को लेकर अनेक संप्रदाय भी निर्मित हुए जिनमें से कुछ की चर्चा हो चुकी है। विद्वानों ने इनकी सूची दी है : निंबार्क, पुष्टिमार्ग, हरिदास, चैतन्य, हितसंप्रदाय अथवा राधावल्लभ आदि। पर ब्रजमंडल के बाहर कृष्णकाव्य में मीरा का नाम बड़े आदर से लिया जाता है जिनके गेय पदों में वैयक्तिक अनुभूति की प्रधानता है : 'मेरो तो गिरिधर गोपाल, दूसरो न कोई रे।' उन्होंने अपने आराध्य कृष्ण को स्वामी मानकर उन्हें सीधे ही संबोधित किया। इसके अतिरिक्त रसखान, रहीम आदि का नाम भी उल्लेखनीय है। वल्लभ ने गोवर्धन में श्रीनाथ मंदिर को कृष्णोपासना का केंद्र बनाया और धीरे धीरे वह भक्तजनों का आकर्षणस्थल बन गया। स्वयं चैतन्य महाप्रभु यहां आए थे और उन्होंने रूप सनातन गोस्वामियों को ब्रज के सांस्कृतिक उन्नयन का दायित्व सौंपा था।[112] कृष्णकाव्य की भक्तिकालीन परंपरा रीतिकाल अथवा शृंगारकाल में आकर अपना भक्तितत्व खो बैठी और सामंती परिवेश की विलासी रसिकता उस पर हावी हो गई। यद्यपि राधा कृष्ण का नाम लिया जाता रहा, पर वह नायक-नायिका की शृंगारिकता को व्यक्त करने के लिए बहाना भर था।

भक्तिकाव्य का मूल सांस्कृतिक स्वर

भक्तिकाव्य का इतिवृत्त उसकी कई दिशाओं का संकेत करता है। लगभग चार शताब्दियों की लंबी यात्रा में उसे इतिहास के अनेक दबावों से गुजरना पड़ा—खलजी राज्य (1288-1321 ई०), अलाउद्दीन खलजी (1295-1317 ई०) के आरंभ से तुगलक (1321-1414 ई०), सैयद (1414-1450 ई०), लोदी (1450-1526 ई०), राजवंश का सल्तनतकाल उसने पार किया और फिर मुगलकाल में प्रवेश किया (शेरशाह के 1540-1545 ई० के समय को छोड़कर) बाबर (1526-1530 ई०), हुमायूं (1530-1556 ई०), अकबर (1556-1605 ई०), जहांगीर (1605-1627 ई०) तथा शाहजहां (1627-1658 ई०)। जैसा कि कहा जा चुका है भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि में सिद्धों, नाथों, संतों का साहित्य मौजूद है और निर्गुनिया संतकाव्य पर उसका प्रभाव बहुत गहरा है। साकार उपासना : राम, कृष्ण को केंद्र में रखकर चलनेवाले भक्तिकाव्य को इनकी प्रतिक्रिया में उपजा कहा जा सकता है, क्योंकि सगुणोपासक साधारणजन के लिए किसी देवता की अनिवार्यता स्वीकारते हैं। सूर के शब्दों में 'सब बिधि अगम विचारहिं ताते, सूर सगुन लीलापद गावें।' वास्तव में सगुण-निर्गुण में ऐसा संघर्ष नहीं है जैसा प्राय

समझ लिया जाता है। निराकारोपासना के मूल में धर्म के बाह्याचारों, आडंबरों के प्रति गहरा विक्षोभ मौजूद है जिसे नाथों, सिद्धों, संतों ने अभिव्यक्ति दी और कबीर आदि ने उसी स्वर को तीखे ढंग से प्रस्तुत किया। राम, कृष्ण की भक्ति-शाखाएं भी मोक्ष के उसी गंतव्य तक जाना चाहती हैं, किंतु समाज पर प्रहार में उनकी रुचि कम है।

भक्तिकाव्य की मुख्य धाराएं अपने चिंतन पक्ष की विशिष्टता के कारण विद्वानों द्वारा वर्गीकृत की जाती हैं पर मेरा विचार है कि उनका मूल स्वर लगभग एक जैसा है। आक्रोशी मुद्रा और जनता के मुहावरे में होने के कारण निर्गुनिया कवियों का स्वर पहचानने में हमें अधिक कठिनाई नहीं होती, पर यदि गहरे जाकर पड़ताल करें तो तुलसी, सूर जैसे कवि भी मध्यकालीन सांस्कृतिक जागरण में अपना विशिष्ट योगदान करते हैं। भक्तिकाव्य में हस्ताक्षर करनेवाले कवियों की लंबी सूची है, जिसमें कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, मीरा जैसे प्रथम पंक्ति के कवियों से लेकर अनेक अल्पख्यात कवि हैं जिन्होंने भक्तिकाव्य को व्यक्तित्व देने में अपना योग दिया। प्रायः सांस्कृतिक पक्ष के संदर्भ में संत कवियों के खुले सामाजिक आशय को उद्धृत कर दिया जाता है, पर इसे अध्ययन की अपूर्णता कहा जाएगा। धार्मिक अंधविश्वासों पर तीखे प्रहार के साथ वे अपनी सामाजिक कल्पना का एक नया आध्यात्मिक संसार भी निर्मित करना चाहते हैं। कबीर खोखला शास्त्रज्ञान, पंडिताई, कर्मकांडी व्यवस्था, जाति-पांति, बाह्याचार का खुले, दो-टूक शब्दों में विरोध करते हैं। उनका तथाकथित पंडितों से प्रश्न है कि जब सबका सृष्टा एक ही परमेश्वर है तो फिर छुआछूत कैसी ? अष्टकमल होकर निर्विकार भाव से जब पृथ्वी पर अवतरण हुआ और सभी योनियों में एक ही माटी है, तब छूत का क्या प्रश्न ? कबीर समर्पणभाव से प्रार्थना करते हैं कि मेरे आराध्यदेव अब मुझे उस अध्यात्मलोक में ले चलो जहां 'सहज भाइ' उपजता है। यहां साधारण किसान की भाषा में कबीर निवेदन करते हैं

अब मोहि ले चलु ननद के बीर अपने देसा।
इन पंचन मिलि लूटी हूं, संग संग आहि बिदेसा ॥
गंगतीर मोरी खेती-बारी, जमुनतीर खरिहाना।
सातो बिरखी मेरे नीपजै, पांचू मोर किसाना॥
कहै कबीर यह अकथ कथा है, कहता कही न जाई।
सहज भाइ जिहि ऊपजै, ते रमि रही समाई ॥[113]

कबीर ने इस आध्यात्मिक लोक के सघन चित्र बनाए हैं 'मैंमता घूमत रहै, नाहीं तन की सार।' उसे 'पिया का देस' कहा गया है, जहां प्राणों में आध्यात्मिक संगीत के स्वर तैरते हैं—अनहदनाद। मन मस्त हो जाए तब बोलना नहीं चाहता, यह निर्वचनीय सुख है—अखंडित ! इसीलिए कबीर ने उसे 'महासुख' कहा। इस

आनंदलोक मे चिरंतन ऋतुराज वसंत क्रीडा करता है, अनहदनाद बजता है, चारों ओर निर्मल ज्योति बिखरी रहती है। यही सहज समाधि है सहज समाधि सुख मैं रहिबौ, कोटि कलप विश्राम[114]। कबीर कई दिशाओ से चेतावनी देते हैं भ्रम मे मत पडो—खुदा एक है 'राम रहीम रह्या भरपूरि'[115] और साथ ही 'मन रे जागत रहियो भाई।' वह भी 'राम' का नाम लेते हैं, पर ब्रह्म के अर्थ मे और इस प्रकार भक्ति का वृत्त पूरा करते है।

हमारा अध्ययन राम और कृष्णकाव्य के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश तक सीमित है जो मुख्यतया साकार उपासना का क्षेत्र है और यह प्रश्न मध्यकालीन अवतारवादी कल्पना से जुडा हुआ है। सच्चाई यह है कि भारतीय मध्यकालीन इतिहास मे मुस्लिम आक्रमण से राजनीतिक विप्लव तो हुआ पर भारतीय समाज मे एक नए सास्कृतिक आदोलन की प्रक्रिया भी भीतर भीतर आरभ हो गई। प्राय इसे हिंदू भारत का पराभव कह दिया जाता है, अथवा दूसरे सीमात पर इस्लामी प्रभाव की बात कहकर सतोष कर लिया जाता है। किंतु सास्कृतिक चेतना की प्रक्रिया इतनी सरल नही हुआ करती। सातवी शती मे इस्लाम ने भारत के सिंध प्रदेश का स्पर्श किया और आठवी शती के आरभ मे मु० बिन कासिम ने प्रथम अरब राज्य की नीव डाली। दसवी शती के अत मे सुबुक्तगीन ने आगे बढ़ने का प्रयत्न किया और उसके पुत्र महमूद गजनवी ने ग्यारहवी शती के प्रथम वर्ष से लेकर 1024 ई० तक भारत को अपने अनेक आक्रमणो (इलियट के अनुसार सत्रह) से झकझोर दिया। इतिहासकार उसे 'मूर्तिभंजक' कहते आए हैं। बारहवी शती के अत मे मुहम्मद गोरी ने भारत मे वास्तविक मुस्लिम राज्य की स्थापना की, क्योकि उसके बाद के शासक यही बस गए। इसके अनतर इतिहास मे कई मोड आए और आरभिक शासकों की कठोरता के अनतर मुगलों के अपेक्षाकृत उदार शासन का सिलसिला शुरू हुआ। सास्कृतिक मेल-जोल की प्रक्रिया ने भारतीय रचना को भी प्रभावित किया और भक्तिकाव्य मे भी उसके तत्व खोजे जा सकते हैं। यो स्थिति यह है कि सास्कृतिक जागरण का जो नया दौर आया उसने कविता, सगीत, मूर्ति, चित्र, स्थापत्य, धर्म, चिंतन सभी क्षेत्रों मे अपना व्यापक प्रभाव डाला। अपनी प्रगतिवादी व्याख्या मे के० दामोदरन लिखते हैं

> भक्ति आदोलन उस समय आरभ हुआ था, जब हिंदू-मुसलमान पुरोहितो और उनके द्वारा समर्थित और समृद्ध किए गए निहित स्वार्थों के खिलाफ सघर्ष एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया था। जनता को, जो अब तक सकीर्ण और स्थानीय निष्ठाओ से आबद्ध थी और युगो पुराने अधविश्वास और दमन-शोषण के बावजूद हतोत्साह नहीं हुई थी, जगाया जाना और अपने हितो तथा आत्मसम्मान की भावना के लिए उसे एक किया जाना

58 हजारीप्रसाद द्विवेदी 'कबीर', पद 235
59 अंडरहिल 'मिस्टिसिज्म', पृ० 173
60 शिवदान सिंह चौहान 'कबीर, एक विश्लेषण',
61 'कबीर ग्रंथावली', पद 338
62 हजारीप्रसाद द्विवेदी 'कबीर', पृ० 165-66
[redacted] रामकुमार वर्मा 'संत कबीर', पद 98
64 वही, पृ० 91
65 जयदेव सिंह, वासुदेव सिंह 'कबीर वाङ्मय', खंड 1, पृ०
66 'कबीर ग्रंथावली', पद 6
67 वही पद [redacted]
68 वही
69 परशुराम चतुर्वेदी 'उत्तरी भारत की संत परंपरा', पृ० 263
70 युसुफ हुसैन 'मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति एक झलक', पृ० 39
71 हिंदी कुरान', 24 सूरे पृ० 356
72 आर० ए० निकल्सन 'दि आइडिया आफ पर्सनैलिटी इन सूफीज्म', पृ० 9
73 ए० एस० ए० ग्रुवती 'आउटलाइंस आफ इस्लामिक कल्चर', पृ० 469
74 आर० ए० निकल्सन 'दि मिस्टिक्स आफ इस्लाम', पृ० 87
75 सै० अ० अ० रिजवी 'खलजीकालीन भारत', 'दिवलरानी तथा खिज्र खां', पृ० 171
76 परमेश्वरीलाल गुप्त (सं०) 'चंदायन', परिचय पृ० 64
77 'पदमावत' (सं० वासुदेवशरण अग्रवाल), पृ० 19
78 शिवसहाय पाठक (सं०) 'चित्ररेखा, प्राक्कथन, पृ० 43
79 वही, 'अखरावट', 27/5
80 शिवसहाय पाठक (सं०) चित्ररेखा', 10/1
[redacted] 'जायसी ग्रंथावली' (सं० माताप्रसाद गुप्त), आखिरी कलाम, 10/2
[redacted] 'पदमावत' (सं० वा० श० अग्रवाल), पृ० 25.
[redacted] वही, पृ० 26
84 ईश्वरी प्रसाद 'हिस्टरी आफ मेडिवल इंडिया', पृ० 230-32
85 'पदमावत' (सं० वा० श० अग्रवाल), जन्म खंड, पृ० [redacted]
86 वही, पृ० 74
87 वही, पृ० 142
88 वही, पृ० 143
89 वही, पृ० 426
90 वही, पृ० 430
91 वही, पृ० 95
92 वही, पृ० 119
[redacted] ई० जी० ब्राउन 'लिटरेरी हिस्टरी आफ पर्शिया', पृ० 427
94. ए० जे० आर्बेरी 'सूफीज्म', पृ० 23

95 'चित्ररेखा', दो

96 रामपूजन ति

97 रामचंद्र शुक्ल

98 आर० ए० नि

99 'पद्मावत'

100 वही, 'मानस

101 'पद्मावत',

102 रवींद्र भ्रमर

103 असद अली

104 श्यामसनोहर

105 रा० गो०

106 'भागवत',

107 वही, 1/3/2

108 कपिलदेव

109 मल्लिक मोह

110 'पदावली'

111 डी० सी० सेन 'हिस्टरी आफ बंगाली लैंग्वेज एँड लिटरेचर', पृ० 465

112 प्रभुदयाल मीतल 'ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास', प्राक्कथन, पृ० 4

113. 'कबीरवाणी', पद 135

114 'कबीर ग्रंथावली', पद 6

115 वही, पद 60

116 के० दामोदरन 'भारतीय चिंतन परंपरा', पृ० 328

भक्तिकाव्य की सामाजिक सांस्कृतिक चेतना
(राम कृष्णकाव्य के संदर्भ में)

मध्यकालीन इतिहास, समाज, संस्कृति की पृष्ठभूमि म भक्तिकाव्य के विवेचन के अनंतर हम देखना चाहेंगे कि रचना म समाज-संस्कृति का प्रक्षेपण किस प्रकार हुआ है और कवियो की सामाजिक चेतना की मूल बनावट क्या है। रचना समाज-सापेक्ष होती है और इतिहास के सामाजिक दबाव इसे रूपायित करते हैं। यदि कोई स्वर इतिहास से विपरीत दिशा म जाने की चेष्टा करता है तो रचनाप्रवाह म उसकी अहमियत नही होती और वह शीघ्र ही समाज से अलग थलग पडकर समाप्त हो जाता है। संस्कृति की चर्चा करते हुए ध्यान रखना होगा कि मध्यकाल म रचना अनेक दिशाओ म सक्रिय हुई और एक ओर सामतो तथा सामती अभिजातवर्ग द्वारा निर्मित स्थापत्य शिल्प है, तो दूसरी ओर रचना के क्षेत्र की वे उपलब्धियां भी हैं, जिनम सामान्यजन के संवेदन उपस्थित हैं। राम-कृष्णकाव्य के पूर्व संतो के विद्रोही स्वर ने जो सामाजिक चेतना प्रक्षेपित की थी, उसका लाभ परवर्ती रचनाओ को मिला। उसकी सीमाए मध्यकाल की सीमाए हैं और इसी पीठिका मे इसे देखना समझना चाहिए। परिवार निजी संपत्ति और राज्य की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए एंगेल्स ने टिप्पणी की है कि किस प्रकार स्वतंत्र लोगो तथा दासो के भेद के साथ साथ अमीर और गरीब का भेद भी जुड जाता है और नए श्रमविभाजन के साथ समाज नए सिरे से वर्गों मे बंट जाता है।[1] भारतीय मध्यकाल म इस स्थिति को देखा जा सकता है, जिसने रचना पर निश्चित दबाव डाले हैं।

सामंती समाज के दबाव

मध्यकालीन समाज सामंतवाद से जुडा हुआ है पर भारत मे सामंतवाद के रूप भी परिवर्तित होते रहे हैं। भारतीय सामंतवाद की चर्चा करते हुए विद्वान मानते हैं कि यद्यपि पहली शती म सामंतवाद के आरंभिक चिह्न दिखाई देने लगे थे पर ब्राह्मणो को जब भूमिदान किया जाने लगा तब उसका स्वरूप स्पष्ट हुआ। रामशरण शर्मा ने प्राचीन सामंतवाद का इतिवृत्त प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि

गुप्तकाल मे सामती व्यवस्था पनपी और अमात्य, कुमारामात्य सामती विरुद बन गए। छठी शती तक कुमारामात्य गावो के शासक बन गए और वे किसी अनुमति के बिना दान कर सकते थे।[2] इस प्रकार भूमि के वितरण और अतिरिक्त उत्पादन के अधिकार को लेकर जो सामती व्यवस्था उदित हुई उसका विकास सल्तनतकाल तक होता रहा। शासको ने इन सामतो का उपयोग अपने राज्य को बनाए रखने के लिए किया और जब क्षेत्रीय सीमाओ के विस्तार के लिए सघर्ष होता था, तब इन सामतो की अहम भूमिका रहती थी और वे राजा के सहायक होते थे। इस सदर्भ मे पाल, प्रतिहार, राष्ट्रकूटो का उल्लेख विशेष रूप से किया जाता है, जब भारतीय सामतवाद विकसित हुआ।

सल्तनतकालीन भारत मे सामती व्यवस्था का नया दौर आरंभ हुआ क्योकि बाहर से आए हुए शासको को देसी समर्थन से अपना राज काज चलाना था। वह पुराना सामतवाद भी था जो भूमि पर अधिकार के लिए सगठित तो होना चाहता था, पर अपने ही अतर्विरोधो का शिकार था क्योकि हितो की टकराहट मे वे एक दूसरे से ही उलझे हुए थे, सुल्तानो से सघर्ष के लिए उन्हे अवकाश ही न था। सल्तनतकाल उत्तर म स्थापित हुआ पर उस समय राजपूताना, गुजरात, बगाल, असम, दक्षिण सब सामती व्यवस्था से लिपटे हुए थे। इनमे कभी कभी ऐसे महत्वाकाक्षी शासक अवश्य हो जाते थे कि वे अपनी राज्यसीमाओ का विस्तार करते हुए सामतो को संगठित करना चाहते थे। 1193 ई० के तराइन युद्ध मे मुहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज चौहान को पराजित कर पुराने सामतवाद की दुर्बलताओ और उसके खोखलेपन को बेनकाब कर दिया था। इस समय गुर्जर-प्रतिहार, अहरवार, चदेल आदि उत्तर के सामती राजवश थे, दक्षिण मे चालुक्य, राष्ट्रकूट, यादव, होयसल पल्लव, पाडय, चोल आदि और उत्तर पश्चिम मे राजपूत भारतीय सामतवाद के प्रतीक बने।

सामती ढाचा सल्तनतकाल मे जातीय आधार पाने के कारण और भी जटिल हो गया तथा विभिन्न सामत अपनी अपनी बिरादरी के मुखिया बने। दामोदरन ने सल्तनतकाल को उत्तरकालीन सामतवाद से जोडते हुए कहा है कि नए धार्मिक दृष्टिकोण के बावजूद वे भारत के सामतवादी आधार को नही बदल सके। किंतु उन्होने सामती स्वामित्व के कुछ नए रूपो को जारी किया और नए सामती साम्राज्य को चलाने के लिए एक केंद्रीय राज्यतत्र का गठन किया।[3] अपने राज्य को दृढ करने के लिए सुल्तानो ने सामतो का उपयोग किया और आरभ मे खलीफाओ तक से अपने को जोडे रखा। इस प्रकार धार्मिक स्वीकृति का भी दुरुपयोग किया। इतिहासकारो ने सुल्तान को 'निरकुश स्वेच्छाचारी' कह कर संबोधित किया है।[4] समाज, सस्कृति की चर्चा करते हुए हम कह आए हैं कि चौदहवी-पद्रहवी शती के सल्तनतकाल मे सामती व्यवस्था का नया दौर आया,

जिसमें आरंभिक टकराहट के बाद मेल-जोल की थोड़ी शुरुआत हुई। चौदहवीं शती के आरंभ में देवगिरि को पराजित कर अलाउद्दीन ने उत्तर-दक्षिण के भौगोलिक पार्थक्य को मिटाने की चेष्टा की। पर दक्षिण में बहमनी जैसे शक्तिशाली मुस्लिम राज्य प्रमाणित करते हैं कि धर्म एकता का आधार नहीं है और भारतीय मध्यकाल में वास्तविक टकराहट सामंतों के बीच थी। बरार, बीजापुर, अहमदनगर, गोलकुंडा, बीदर के मुस्लिम शासक उत्तर के सुल्तानों को चुनौती देते रहे और मुगलकाल में ही दक्षिण संपूर्ण भारत की राजनीतिक इकाई बनाया जा सका।

सल्तनतकाल में सामंतवाद को सुल्तान ने एक केंद्रीय राज्यशासन देने में पहल की पर उसके अंतर्विरोध बहुत स्पष्ट हैं। हिंदू सामंत अब भी सक्रिय थे और भौगोलिक सुरक्षा में दक्षिण विशेष सक्रिय था। धर्मपरिवर्तन करके इस्लाम में आनेवाले लोग अपने साथ वर्णसंस्कार लाए थे और वे जल्दी उससे मुक्त न हो सके। मध्यकाल में स्थिति यह थी कि एक ही खुदा को स्वीकारनेवाला इस्लाम धर्म भी भारतीय जातिवाद से अनचाहे ही प्रभावित हो गया था। इस समय का वर्गभेद बहुत साफ है और यद्यपि रईस सामंतों में मेल-जोल शुरू हो गया था पर निर्धनवर्ग गरीबी से जूझ रहा था, किसी भी जाति का हो। जब अब सल्तनत की केंद्रीय सत्ता कमजोर हुई विभिन्न सामंतों ने स्वयं को स्वतंत्र घोषित किया और एक अराजक स्थिति में सामान्यजन शोषण, अन्याय के शिकार हुए। सतीशचंद्र ने मध्यकाल में सामंतों की महत्वपूर्ण स्थिति स्वीकारते हुए लिखा है कि सुल्तानों ने सामंतवाद से समझौता किया और किसानों को उनके हाल पर छोड़ दिया।[5]

सामंतवाद का केंद्रीकरण

मुगलों ने सामंतवाद का केंद्रीकरण करने में सफलता पाई और बादशाह केंद्रीय सत्ता का प्रतीक बना। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी का कथन है कि 'मुगल बादशाह राजनीतिक प्रभुसत्तासंपन्न था। उसने सामंतों को काबू में रखा और इसी समय शाहजादों को जागीरें दी गईं।'[6] इस प्रकार सामंतवाद का केंद्रीकरण हुआ। स्थिति यह है कि कृषि पर आधारित भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था में सामंती सक्रियता महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती आई है, खास तौर पर मध्यकाल में। इरफान हबीब ने मुगलकालीन सामंतवाद की इकाई जमींदार की चर्चा करते हुए लिखा है कि किसानों के अतिरिक्त उत्पादन के शोषण पर जीनेवाला *यह सबसे बड़ा* तबका था, जिसे भूमि पर मौरूसी हक प्राप्त थे और जो स्थानीय स्वेच्छाचारिता का प्रतीक था।[7] इसके पास सैनिक शक्ति थी और युद्ध अभियान में जमींदारवर्ग बादशाह का सहायक था। यहां ध्यान देने की बात यह है कि दिल्ली में केंद्रीय सत्ता

का प्रतीक बादशाह, सूबो अथवा प्रातो या जागीरो मे सूबेदार, जागीरदार थे, पर भूमि का वास्तविक कर्ताधर्ता कृषकसमाज सकट म और हर प्रकार के शोषण म बधा हुआ था। ऐसी ही स्थिति मे तुलसी ने कहा

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख वलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका-विहीन लोग, सीद्यमान सोचवस,
कहैं एक एकन सो कहा जाई का करी।[8]

मध्यकालीन सामती परिवेश मे एक ओर बादशाह, दरबारी सभासद, अमीर-उमरा, मनसबदार, बडे अधिकारी आदि हैं दूसरी ओर कृषक तथा अन्य सामान्यजन। प्रो० नुरुल हसन ने मुगलकाल मे जमींदार वर्ग की अहम भूमिका का उल्लेख करते हुए यह स्वीकारा है कि 'राजनीतिक दृष्टि से कई बार मुगल सरकार व जमींदारो मे टकराहट के अवसर आते थे और बादशाह को उनके कारण कठिनाइया होती थी पर शासन के लिए वह उन पर निर्भर रहने के लिए विवश था। पर सास्कृतिक क्षेत्र मे शाही दरबार तथा जमीदारवर्ग के निकट सबधो के कारण अकबर जैसे शक्तिशाली शासक सामतो का उपयोग राजनीतिक, सास्कृतिक एकता के लिए कर सके।'[9] मध्यकाल मे सामतवर्ग कितना शक्तिशाली था, इसका प्रमाण समय समय पर होनेवाले विद्रोह है और इतिहासकार स्वीकारते हैं कि इसी सामतवर्ग की महत्वाकाक्षाओ के कारण मुगल साम्राज्य का पराभव हुआ।

रचना की सास्कृतिक अभिव्यक्ति

मध्यकालीन सामती समाज की चर्चा इसलिए आवश्यक है कि वह समाज का मूल ढाचा है और उसने रचना पर अपने निश्चित दबाव छोडे हैं। मध्यकालीन समाज, सस्कृति की विस्तृत चर्चा हम स्वतत्र अध्ययन के रूप मे कर आए हैं, इसलिए पुनरावृत्ति नही करना चाहते, पर मध्यकालीन काव्य मे समाज-सस्कृति के जो दृश्य बिबित हुए हैं, उन्हे इस सामती परिवेश से अलगाकर नही देखा-परखा जा सकता। हमारे काव्य की पृष्ठभूमि मे सल्तनतकाल है तथा उसका सर्वोत्तम मुगलकाल के दौर से गुजरता है और इतिहास-समाज के दबाव उस पर अपनी निश्चित छाया छोडते हैं। एक केंद्रीय सत्ता के कारण सामाजिक ढाचा अपनी असगतियो के बावजूद अलग-थलग नही हुआ था और सत्तासामतो की टकराहट इतनी भीषण न हो सकी कि अन्य बातो के लिए गुजायश ही न रहे। मेरा विचार है कि सल्तनतकाल मे प्रादेशिक भाषाओ को जो सामती प्रोत्साहन मिला, उससे भी भक्तिकाव्य को गति मिली। कई इतिहासकारो की तरह मैं भी सोचता हू कि आरभिक तनाव के बाद जब थोडी राजनीतिक स्थिरता आई और मेल-जोल का

सिलसिला आरभ हुआ तब दोनो प्रमुख जातियो ने एक दूसरे से बहुत कुछ लिया-दिया और भक्तिकाव्य मे उसकी अभिव्यक्ति हुई है। डा० देवराज स्वीकारते हैं कि कोई भी कला यथार्थ के प्रति सकेत से मुक्त नही होती। जिस कर्म या व्यापार का यथार्थ से सबध नही है, उसे महत्त्वपूर्ण नही कहा जा सकता। मनुष्य के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण व्यापार का लक्ष्य या तो यथार्थ का उद्घाटन होता है अथवा यथार्थ का पुन सगठन। जिसे हम कला कहते हैं उसम इन दोनो व्यापारो का समावेश हो जाता है। कला यथार्थ का निर्माण भी करती है और उसका उद्घाटन भी।[10]

इसके पूर्व कि हम देखें कि मध्यकालीन सस्कृति किस प्रकार भक्तिकाव्य मे बिंबित हुई है यह भी विचारणीय है कि आखिर समाज रचना में किस प्रकार सलग्नता है। डा० रामविलास शर्मा जैसे मार्क्सवादी समीक्षक स्वीकारते हैं 'सामाजिक परिस्थितिया चितन की सीमाए निश्चित करती हैं, लेकिन चितन स्वय प्रत्येक अवस्था मे सामाजिक परिस्थितियो का प्रतिबिंब नही होता।'[11] कई बार यो भी होता है कि रचना सपूर्ण सामाजिक दबावो को आत्मसात नही कर पाती और अपने समय से एक प्रकार का पलायन कर जाना चाहती है, पर सार्थक रचनाए, ऐसा नही करती। मध्यकालीन भक्तिकाव्य अपनी भक्तिचेतना के बावजूद सामाजिक सलग्नता से उपजा है। यह बात अवश्य है कि जो राम-कृष्णकाव्य हमारे विवेचन का मुख्य विषय है, उसमे सास्कृतिक प्रतिफलन की प्रक्रिया किंचित भिन्न है और गहरे जाकर उसकी पडताल करनी होगी। हम कह आए हैं कि सिद्धो, नाथो आदि की पीठिका पर उपजा सतकाव्य निश्चित ही विद्रोही है, पर उसका एक आध्यात्मिक पक्ष भी है।

सास्कृतिक दृष्टि

राम कृष्णकाव्य की सास्कृतिक चेतना का विवेचन करते हुए हम स्वीकारते हैं कि उसका स्वर कबीर आदि की तरह जुझारू नही है, पर मध्यकालीन समाज यहा बिलकुल अनुपस्थित भी नही है। मध्यकालीन हिंदी काव्य की तात्विक पृष्ठ-भूमि पर विचार करते हुए विश्वभरनाथ उपाध्याय का मत है कि सतकवियो के विपरीत कृष्णसप्रदाय और रामसप्रदाय के भक्तकवि तत्रो की रागसाधना को स्वीकार करके भी, समाज के प्रति विरोधी दृष्टि नही अपनाते।[12] सत-कवियो का रुख जुझारू है और वे सामान्यजन के मुहावरे मे अपनी बात कहते हैं, पर राम-कृष्णकाव्य के रचयिताओ मे मध्यकालीन समाज के प्रति कोई ऐसा कायर समझौतावादी रुख नही दिखाई देता कि कहा जा सके कि वे केवल सुविधा-वादी हो गए हैं। यदि दो प्रमुख कवियो – सूर, तुलसी—के ही सदर्भ मे फिलहाल बातें करें तो ज्ञात होगा कि अपने समय और समाज से वे पूर्ण संतोष नही प्राप्त करते। सूर ने किसानी-चरागाही सस्कृति को अपना विषय बनाया और उसी के

माध्यम से अपनी भक्तिचेतना को व्यंजित किया। तुलसी 'रामचरितमानस' जैसा प्रबंधकाव्य रच रहे थे और उसमे मध्यकालीन समाज अनुपस्थित रहे, ऐसा संभव नहीं। पर संस्कृति की अभिव्यक्ति कई बार एक ही कालखंड मे थोडे बहुत हेर-फेर के साथ भी होती है, खासतौर पर जहा रचना का समवेत स्वर न हो।

संतकाव्य का आरंभ सल्तनतकाल की पृष्ठभूमि म हुआ, जबकि राम-कृष्ण काव्य का सर्वोत्तम कृतित्व प्राय मुगलकाल से संबद्ध है, इससे भी दोनो की रचनाशीलता मे अंतर आना स्वाभाविक है। रामानंद के शिष्यो म गिने जानेवाले कबीर, सन नाई, पीपा, रैदास, धन्ना, अनंतानंद, सुरसुरानंद, नरहर्यानंद, योगानंद, सुखानंद, भवानंद, गालवानंद ने निश्चित ही समाज के प्रति अपना आक्रोश तीखे स्वर मे व्यक्त किया। संतकवि परंपरा के अन्य कवि भी दोटूक भाषा मे बोलते हैं, जैसे चरनदास वर्गभेद का वर्णन करते है

एकन पग पनही नही, एक चढै सुख पाल ।।
एक दुखी, एक अति सुखी, एक भूप इक रंक ।
एकन को विद्या बडी, एक पढे नहिं अंक ।।
एकन को मेवा मिले, एक चने भी नाहिं ।
कारन कौन दिखाइये, करि चरनन की छांहि ।।[13]

संतकाव्य की सामाजिक विद्रोही प्रवृत्ति की चर्चा हम भक्तिकाल के इतिवृत्त म कर आए हैं। यहा हमारा उद्देश्य यह संकेत करना है कि जो राम-कृष्णकाव्य हमारे अध्ययन का मुख्य विषय है, उसका संबंध राजनीतिक दृष्टि से मुगलकाल के अपेक्षाकृत अधिक स्थायीकृत समय स है। सामाजिक धरातल पर केंद्रीय शासन ने अराजक स्थिति को थोडा प्रतिबंधित कर दिया था, यद्यपि सामाजिक स्तर पर किसी परिवर्तन का दावा सामंती व्यवस्था नही कर पाती। एक ओर समाज का उच्च वर्ग था जो शहशाह को केंद्र मे रखकर निर्मित हुआ और दूसरी ओर किसान, कारीगरो का सामान्यजनवाला समाज।

राम, कृष्ण और भक्तिप्रतिक्रियाए

राम और कृष्ण को केंद्र मे रखकर चलने के कारण तुलसी, सूर जैसे समर्थ कवि भी अपना प्रमुख ध्यान इन चरितनायको की जीवनगाथा को देते हैं, पर वे उनके पौराणिक चरित्र को तोडकर, मानवीय भूमि पर प्रतिष्ठित कर, उन्ह नया सामाजिक व्यक्तित्व देने की शक्ति भी रखते है और किसी सार्थक स्रष्टा की यह निश्चित सर्जनात्मक उपलब्धि है। अधिकांश संतकवियो को सुविधा थी कि वे राम अथवा कृष्ण की गाथा से बधे नही थे, इसलिए वे सामाजिक चेतना की निर्द्वंद्व अभिव्यक्ति कर सके, उपदेशक तक बन सके। जनसमाज उनके सामने है और वे उसे सीधे ही संबोधित करके अपनी बात कहते हैं। सचाई तो यह है कि

उनकी रचनाए जिस सामाजिक आक्रोश से उपजी हैं, उसमे कई बार वक्तव्यों की प्रधानता हो गई है। कबीर की साखिया इसका प्रमाण हैं, जिसमे अनेक रूपो मे उन्होने सामाजिक आडबरो पर आक्रमण किया है और जातीय सौमनस्य का आवाहन किया है। दादू का कथन है :

दादू ना हम हिंदू होहिंगे, ना हम मूसलमान,
षटदरसन मे हम नही, हम राते रहिमान।[14]

राम और कृष्ण को केंद्र मे रखकर चलने के कारण काव्य मे उनके अवतारी व्यक्तित्व को प्रमुखता मिली। सतकवि भी राम, कृष्ण अथवा अन्य अवतारो का नाम कभी कभी लेते हैं, पर उनका मूल आशय ब्रह्म से रहता है। साकार-निराकार के प्रश्न को लेकर प्राय. दार्शनिक समाधान तलाशा जाता है और कवियो को अलग अलग शिविरो मे बाट दिया जाता है, पर मेरा विचार है कि इसके मूल मे गहरे सामाजिक आशय विद्यमान हैं। जिन्हे निर्गुनिया सत कहा जाता है, उनका मूल प्रयोजन तीव्र सामाजिक असंतोष से उपजा है और वे धार्मिक रूढियो को तोडते हुए निराकार के रूप मे एक नया चिंतन तलाशते हैं। कई बार हमे एक विचित्र स्थिति यह दिखाई देती है कि जातीय सौमनस्य के लिए वे हिंदू-मुसलमान दोनो को समझाते हैं कि ईश्वर, अल्लाह एक है, धर्माडबर से दूर रहो। पर अपने निराकार ब्रह्म के प्रति गहरे समर्पणभाव से वे पदरचना भी करते है। कबीर का काव्य इसका प्रमाण है। राम, रहीम को लेकर जो सघर्ष उच्चवर्ग, पडित-मुल्ला आदि की सहायता से रच रहा था, उसमे उसके निहित स्वार्थ थे, क्योकि असंगठित समाज का शोषण आसान होता है। पर सतकवियो ने एक विकल्प भी तलाशा, जहा आध्यात्मिक मूल्यो की प्रतिष्ठा की जा सके। अवतारो के स्थान पर निराकार की चर्चा के मूल में निश्चित सामाजिक उद्देश्य दिखाई देते हैं। कबीर के एक पद मे मध्यकाल की दयनीयता चित्रित है जिसमे राम का प्रयोग ब्रह्म के रूप मे किया गया है :

राम बिना संसार धुध कुहेरा, सिरि प्रगट्या जम का पेरा।
देव पूजि पूजि हिंदू मुये, तुरक मुये हज जाई।
जटा बाधि बाधि योगी मूये, इन मैं किनहू न पाई॥
कवि कवीनैं कविता मूये, कापडी के दारौ जाई।
केस लूचि लूचि मूये बरतिया इनमैं किनहू न पाई॥
धन सचते राजा मूये, अरु लो कचन भारी।
वेद पढें पढि पडित मूये, रूप भुलैं मूई नारी॥
जे नर जो जुगति करि जानैं, खोजैं आप सरीरा।
तिनहु मुकति का ससा नाही, कहत जुलाह कबीरा॥[15]

कबीर ने अनेक बार राम का उपयोग किया है : राम नाम का रग लग गया है,

अब कुरग न होगा 'हरि रंग सौं रंग और न कोई'[16], राम नाम के बिना छुटकारा नहीं[17], रामनाम सब कोई बखानत हैं, उसका मरम कोई नहीं जानता[18], राम-राम कहो[19], अपने रामसनेही को कब देखूगा, जिसके बिना मेरी देही दुख पाती है[20], मेरे राम घर कब आएगे जिसे देखकर मेरा जी जुड़ा जाएगा[21], राम के चरणों मे चित लाओ[22], जनम चला गया हरि नही कहा[23], रामदेव की सेवा तो हम जुलाहे ने की है[24], तू कैसा हरि का दास है कि जनम गवाए दे रहा है[25], गवार, हरि का नाम नही लेता, बार बार न जाने क्या सोचता है।[26] कबीर कहते हैं 'अलह राम जीऊ तेरे नाई। बदे ऊपरि मिहर करौ मेरे साई।'[27] राम अथवा हरि को उनकी लीलाभूमि से अलगाकर इन कवियो ने उन्हें व्यापकत्व दिया, सर्वजनग्राह्य बनाया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की सार्थक टिप्पणी है कि 'वस्तुत जब कबीरदास निर्गुण भगवान का स्मरण करते हैं तो उनका उद्देश्य यह होता है कि भगवान के गुणमय शरीर की जो कल्पना की गई है, वह रूप उन्हें मान्य नही है। परतु निर्गुण से केवल एक निषेधात्मक भाव ग्रहण करते हो, सो बात भी नही है। वस्तुत वह भगवान को सत्व, रज और तमोगुण से अतीत मानते हैं और इस गुणातीत रूप को निर्गुण शब्द से प्रगट करते हैं।'[28] मेरा विचार है कि इसके मूल मे गहरा सामाजिक-सांस्कृतिक आशय है, एक अधिक बेहतर समाज की कल्पना। इसीलिए कवियो मे राम कृष्ण का साथ साथ भी उल्लेख हुआ है।

मध्यकालीन परिवेश और समानातर चरितनायक

प्रश्न है कि राम, कृष्ण को लेकर चलनेवाले कवियो ने अवतार की साकारी कल्पना के माध्यम से क्या कहना चाहा ? यहा सर्वप्रथम इस भ्राति को तोडना होगा कि ये दोनो विष्णु अवतार हिंदुओ से जुडे हुए हैं, इसलिए इनसे किसी साप्रदायिक प्रयोजन की पूर्ति का भाव मध्यकालीन भक्तकवियो के मानस मे विद्यमान था। विष्णु की यात्रा और भक्ति के प्रवाह पर विचार करने से ज्ञात होता है कि अवतारी कल्पनाए इतिहास, समाज के दबावो मे रूपातरित होती रही हैं और भक्ति आदोलन तक आते आते राम, कृष्ण का पर्याप्त मानवीकरण हो चला था। यह ऐतिहासिक दबावों का परिणाम है कि जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश कट्टरपथी आचार्यों, पुरोहितो द्वारा अपने वर्गीय स्वार्थों के लिए प्रयुक्त किए जाते थे और जिन्हें लेकर आपस मे भीषण टकराहट होती थी, उन्हें सहज मानवभूमि पर भी आना पड़ा तथा राम, कृष्ण मे त्रिदेव के लगभग एकीकरण का प्रयत्न भी हुआ। तुलसी मे राम की कथा शकर पार्वती को सुनाते हैं, वह स्वय रामनाम का जाप करते हैं 'सतत जपत सभु अविनासी। सिव भगवान ग्यान गुनरासी।'[29] तुलसी अपने चरितनायक राम मे त्रिदेव का सयोजन सामाजिक-सांस्कृतिक आशय से करते हैं कि विभिन्न सप्रदायो की टकराहट समाप्त हो और एक

व्यापक भूमि पर क्रियाशील व्यक्तित्व उजागर हो। कृष्णकवि अपने आराध्य को लोकजीवन स जोडकर रसात्मक बनाते है। इस प्रकार जिन दो प्रमुख विष्णु अवतारो को लेकर राम-कृष्णकाव्य रचा गया, उसकी सामाजिक मानवीय भूमिका है, यद्यपि उसकी पथरेखा सतकवियो से किंचित भिन्न है, इसलिए उसकी पहचान भी कठिन है।

राम कृष्णकाव्य स सबद्ध कवि अपन चरितनायको को मध्यकालीन परिवेश म अलग थलग करके सर्जित नही कर सकते हैं, इस ही मैं इन अवतारो की पुनर्सृष्टि कहता हू। स्थिति यह है कि इतिहास के क्रियाशील पात्र कई बार मौखिक गाथाओ के विषय बनकर लोकजीवन म इतना घुल मिल जाते हैं कि उनके चरित्र के चारो ओर अलौकिक घटनाओ का ताना-बाना बुना जाने लगता है, वे पौराणिक दुनिया म प्रवेश करा दिए जाते हैं। कोई सार्थक रचनाकार इन पात्रो को फिर उठाता है और अपने समय, समाज की भूमि पर उन्ह नए सिरे से गढता है, यह एक प्रकार से उन चरित्रो की पुनर्सृष्टि है। यह कार्य सरल नही क्योकि सर्वप्रथम उस लोकप्रचलित व्यूह को तोडना होगा जो उस व्यक्तित्व क इर्द गिर्द मौजूद है और तब उस अपने समय की जमीन पर लाना होगा। पौराणिकता से सघर्ष करने म राम कृष्ण कवियो ने श्रम किया, इसमे सदेह नही। 'भागवत' अथवा 'वाल्मीकि रामायण' के भावानुवाद अथवा उन्हे दृष्टिपथ मे रखकर रचे गए मध्यकालीन भक्तिकाव्य से सबद्ध रचनाए प्रमाणित करती हैं कि मध्यकाल का रचनाकार एक सही चरितनायक तलाश रहा था और जिसकी सर्जनशीलता मे जितनी शक्ति थी, वह उतनी ही यात्रा कर सका। कई कवियो म सभावनाए थी, पर वे दार्शनिक सप्रदायो से ऐसा बाध दिए गए कि उनका पूरा व्यक्तित्व उजागर नही हो सका। पर जो कवि उन सीमाओ स लड-झगड सके, वे बहुत आगे गए और राम, कृष्ण को उन्होने नया व्यक्तित्व दिया—मध्यकालीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य म।

मध्यकाल और राम की सामाजिकता

मध्यकालीन समाज सस्कृति का मुख्य प्रकाशन इन चरितनायको की कथा के माध्यम स हुआ। इसलिए हमारे लिए यह उपादेय है कि हम देखें कि आखिर कवियो ने इन्हे किस रूप म गढा है। रामकथा के रूप म बराबर परिवर्तन होते रहे हैं और जब मध्यकाल म राम को केंद्र म रखकर काव्यरचना की जा रही थी तब इतिहास, समाज के दबाव अपनी सक्रिय भूमिका म मौजूद थे। इसीलिए वाल्मीकि, भवभूति और तुलसी के राम म अतर आ जाता है क्योकि उनकी रचनाओ के सामाजिक परिवेश मे पार्थक्य है। तुलसी के राम मध्यकालीन समाज म एक लोकधर्मी कथानायक के रूप मे अवतरित होते हैं जैसे कवि एक

समानांतर नेतृत्व अथवा आध्यात्मिक सम्राट की तलाश कर रहा है जो क्षेत्र-विस्तार में रुचि नहीं लेता, वैभव से चमत्कृत नहीं करना चाहता और न रोब-दाब से आतंकित करने की इच्छा ही उसमें है। राम राजभवन में रहकर भी संघर्षरत हैं, विश्वामित्र के आश्रम में जाकर राक्षसों का वध करते हैं और प्रिया भी उन्हें आसानी से नहीं मिल पाई। सीता को राम ने गहरे संघर्ष में पाया था और तुलसी ने उस स्थिति का वर्णन किया है जब धनुर्भंग हो जाता है तब कायरों की क्या प्रतिक्रिया होती है और साधु राजा उन्हें कैसे समझाते हैं

लब सिय देखि भूप अभिलाषे। कूर कपूत मूढ मन माख।।
उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहं तहं गाल बजावन लागे।।
लेहु छडाई सीय कह कोऊ। धरि बांधहु नृप बालक दोऊ।।
तारें धनुष चाड नहिं सरई। जीवत हमहिं कुअरि को बरई।।
जौं बिदेहु कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई।।
साधु भूपि बोले सुनि बानी। राजसमाजहि लाज लजानी।।
बलु प्रताप बीरता बडाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई।।
सोइ सूरता कि अब कहु पाई। अस बुधि तौ बिधि मुह मसिलाई।।
देखहु राम नयन भरि तजि इरषा मदु कोहु।
लखन रोषु पावक प्रबल जानि सलभ जनि होहु।।[30]

कवि का उद्देश्य मध्यकालीन सामंतवाद पर तीखी टिप्पणी करना भी प्रतीत होता है, जो खोखले अहंकार पर जीता है और वह राम को इस सबके विरोध में एक नए चरित्रनायक के रूप में उभारता है। नायक की सीमा यह कि वह राजजन्मा है और उसका वैशिष्ट्य सलामत है। राम की संघर्षगाथा को प्राय भुला दिया जाता है क्योंकि मध्यकाल के रामभक्तकवि प्राय उनके अवतारी रूप का बार बार उल्लेख करते हैं। कथा के आरंभ से ही पाठक, श्रोता लगभग आश्वस्त रहते हैं कि राम की विजय निश्चित है। जहां जहां राम जाते हैं मेघ छाया करते हैं, देवता फूल बरसाते हैं, आकाश में दुंदुभी बजती है आदि। पर इस अलौकिकता के बाहर एक मानव राम है जिसे तुलसी ने गढा है, मध्यकालीन सामाजिक संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में। तुलसी अपने समय, समाज से संतुष्ट नहीं हैं और जाहिर है कि सामंती ढांचे में अपने सार्थक कवि को किसी छोटे-मोटे समझौते के विरोध में खडा हुआ पाते हैं। इसीलिए उन्होंने राम को जननायक बनाया, एक नए आध्यात्मिक सम्राट के रूप में उनकी कल्पना की, जो राज्य पाकर भी उसे ठुकरा देते हैं, पूरी जिंदगी राक्षसों से लडने में बिताते हैं। रामराज्य की कल्पना आदर्शवादी है यूटोपियन, पर तुलसी सामंती शासन के विपरीत एक नए समाज का खाका बनाते हैं जहां 'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना।'[31] यदि हम राम की जीवनी से साक्षात्कार करें तो ज्ञात होगा कि

व्यापक भूमि पर क्रियाशील व्यक्तित्व उजागर हो। कृष्णकवि अपने आराध्य को लोकजीवन में जोड़कर रसात्मक बनाते हैं। इस प्रकार जिन दो प्रमुख विष्णु अवतारों को लेकर राम-कृष्णकाव्य रचा गया, उसकी सामाजिक मानवीय भूमिका है, यद्यपि उसकी पथरेखा संतकवियों से किंचित भिन्न है, इसलिए उसकी पहचान भी कठिन है।

राम-कृष्णकाव्य से संबद्ध कवि अपने चरितनायकों को मध्यकालीन परिवेश में अलग-थलग करके सर्जित नहीं कर सकते हैं, इसे ही मैं इन अवतारों की पुनर्सृष्टि कहता हूं। स्थिति यह है कि इतिहास के क्रियाशील पात्र कई बार मौखिक गाथाओं के विषय बनकर लोकजीवन में इतना घुल-मिल जाते हैं कि उनके चरित्र के चारों ओर अलौकिक घटनाओं का ताना-बाना बुना जाने लगता है, वे पौराणिक दुनिया में प्रवेश करा दिए जाते हैं। कोई सार्थक रचनाकार इन पात्रों को फिर उठाता है और अपने समय, समाज की भूमि पर उन्हें नए सिरे से गढ़ता है, यह एक प्रकार से उन चरित्रों की पुनर्सृष्टि है। यह कार्य सरल नहीं क्योंकि सर्वप्रथम उस लोकप्रचलित व्यूह को तोड़ना होगा जो उस व्यक्तित्व के इर्द-गिर्द मौजूद हैं और तब उसे अपने समय की जमीन पर लाना होगा। पौराणिकता से संघर्ष करने में राम-कृष्ण कवियों ने श्रम किया, इसमें संदेह नहीं। 'भागवत' अथवा 'वाल्मीकि रामायण' के भावानुवाद अथवा उन्हें दृष्टिपथ में रखकर रचे गए मध्यकालीन भक्तिकाव्य से संबद्ध रचनाएं प्रमाणित करती हैं कि मध्यकाल का रचनाकार एक सही चरितनायक तलाश रहा था और जिसकी सर्जनशीलता में जितनी शक्ति थी, वह उतनी ही मात्रा कर सका। कई कवियों में संभावनाएं थीं, पर वे दार्शनिक संप्रदायों से ऐसा बांध दिए गए कि उनका पूरा व्यक्तित्व उजागर नहीं हो सका। पर जो कवि उन सीमाओं से लड़-झगड़ सके, वे बहुत आगे गए और राम, कृष्ण को उन्होंने नया व्यक्तित्व दिया—मध्यकालीन सामाजिक परिप्रेक्ष्य में।

मध्यकाल और राम की सामाजिकता

मध्यकालीन समाज संस्कृति का मुख्य प्रकाशन इन चरितनायकों की कथा के माध्यम से हुआ। इसलिए हमारे लिए यह उपादेय है कि हम देखें कि आखिर कवियों ने इन्हें किस रूप में गढ़ा है। रामकथा के रूप में बराबर परिवर्तन होते रहे हैं और जब मध्यकाल में राम को केंद्र में रखकर काव्यरचना की जा रही थी तब इतिहास, समाज के दबाव अपनी सक्रिय भूमिका में मौजूद थे। इसीलिए वाल्मीकि, भवभूति और तुलसी के राम में अंतर आ जाता है क्योंकि उनकी रचनाओं के सामाजिक परिवेश में पार्थक्य है। तुलसी के राम मध्यकालीन समाज में एक लोकधर्मी कथानायक के रूप में अवतरित होते हैं जैसे कवि एक

समानांतर नेतृत्व अथवा आध्यात्मिक सम्राट की तलाश कर रहा है जो क्षेत्र-विस्तार में रुचि नहीं लेता, वैभव से चमत्कृत नहीं करना चाहता और न रोब-दाब से आतंकित करने की इच्छा ही उसमें है। राम राजभवन में रहकर भी संघर्षरत हैं; विश्वामित्र के आश्रम में जाकर राक्षसों का वध करते हैं और प्रिया भी उन्हें आसानी से नहीं मिल पाई। सीता को राम ने गहरे संघर्ष में पाया था और तुलसी ने उस स्थिति का वर्णन किया है जब धनुर्भंग हो जाता है तब कायरों की क्या प्रतिक्रिया होती है और साधुराजा उन्हें कैसे समझाते हैं :

तब सिय देखि भूप अभिलाषे। कूर कपूत मूढ़ मन माखे॥
उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहं तहं गाल बजावन लागे॥
लेहु छड़ाई सीय कह कोऊ। धरि बांधहु नृप बालक दोऊ॥
तोरें धनुष चाड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुअँरि को बरई॥
जौं बिदेहु कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई॥
साधु भूप बोले सुनि बानी। राजसमाजहिं लाज लजानी॥
बलु प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहिं संग सिधाई॥
सोइ सूरता कि अब कहुं पाई। असि बुधि तौ बिधि मुहं मसि लाई॥
देखहु रामु नयन भरि तजि इरषा मदु कोहु।
लखन रोषु पावकु प्रबल जानि सलभ जनि होहु॥[30]

कवि का उद्देश्य मध्यकालीन सामंतवाद पर तीखी टिप्पणी करना भी प्रतीत होता है, जो खोखले अहंकार पर जीता है और वह राम को इन सबके विरोध में एक नए चरितनायक के रूप में उभारता है। नायक की सीमा यह कि वह राजजन्मा है और उसका वैशिष्ट्य सलामत है। राम की संघर्षगाथा को प्रायः भुला दिया जाता है क्योंकि मध्यकाल के रामभक्तकवि प्रायः उनके अवतारी रूप का बार बार उल्लेख करते हैं। कथा के आरंभ से ही पाठक, श्रोता लगभग आश्वस्त रहते हैं कि राम की विजय निश्चित है। जहां जहां राम जाते हैं मेघ छाया करते हैं, देवता फूल बरसाते हैं, आकाश में दुंदुभी बजती है आदि। पर इस अलौकिकता के बाहर एक मानव राम है जिसे तुलसी ने गढ़ा है, मध्यकालीन सामाजिक संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में। तुलसी अपने समय, समाज से संतुष्ट नहीं हैं और जाहिर है, कि सामंती ढांचे में अपने सार्थक कवि को किसी छोटे-मोटे समझौते के विरोध में खड़ा हुआ पाते हैं। इसीलिए उन्होंने राम को जननायक बनाया, एक नए आध्यात्मिक सम्राट के रूप में उनकी कल्पना की, जो राज्य पाकर भी उसे ठुकरा देते हैं, पूरी जिंदगी राक्षसों से लड़ने में बिताते हैं। रामराज्य की कल्पना आदर्शवादी है, यूटोपियन, पर तुलसी सामंती शासन के विपरीत एक नए समाज का खाका बनाते हैं जहां 'नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना।'[31] यदि हम राम की जीवनी से साक्षात्कार करें तो ज्ञात होगा कि

वह एक संघर्षगाथा है, पर वैयक्तिक नहीं, सामाजिक। उन्होंने किसी महत् सामाजिक आशय के लिए उसका वरण किया है, जब लक्ष्मण के लिए विलाप करते हुए भी राम को शरण में आए हुए का ध्यान है : 'हैं कहां विभीषन की गति रही सोच भरि छाती।'[32]

राम का मानवीकरण तथा सामाजिक दायित्व

राम सामाजिक दायित्व के एहसास से उपजनेवाले चरितनायक हैं—मध्यकालीन सामंती विलास को ललकारते हुए। यद्यपि उनका जन्म स्वयं राजा के घर हुआ था, पर राजपाट छोड़कर वह वन की ओर प्रस्थान करते हैं : 'हरष, विषाद न हृदय कछु पहिरे बलकल चीर।' 'कवितावली' के 'अयोध्याकांड' में आरंभिक दो छंदों में पुनरावृत्ति की गई है 'राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं'—एक सहज अनासक्ति भाव। मध्यकालीन वर्गभेद का उल्लेख करते हुए इतिहासकार स्वीकारते हैं कि एक ओर भोगविलास में डूबा उच्चवर्ग था, दूसरी ओर जीवनयथार्थ से जूझते सामान्यजन। इरफान हबीब का कहना है कि मध्यकाल के जो वृतांत मिलते हैं उनके आधार पर कहा जा सकता है कि किसानों के पास रहने के लिए घास-फूस की झोपड़िया भर थीं।[33] और दूसरी ओर राजाश्रय में पलनेवाला सामंती समाज जिसे इतिहासकारों ने अकबर के समय में मनसबदारी व्यवस्था के रूप में विकसित होते देखा है। राम सामंती व्यवस्था की उपज हैं : दशरथ के बेटा हुआ है तो सारे सामंती तौर-तरीके अपनाए जाते हैं—पंडितजी आ गए, कुंडली बन रही है, ग्रह नक्षत्र विचारे जा रहे हैं 'अवध आजु आगमी एकु आयो।'[34] पर तुलसी अपने राम का प्रजातंत्रीकरण भी करना चाहते हैं। इसीलिए 'कवितावली' में सोहर, मंगलगान, बधावा आदि का विस्तृत उपयोग है। रामजन्म राजमहल तक सीमित नहीं रहता और राजकुमारजन्म के समय मध्यकालीन सामंती परिवेश में डुग्गी पीटकर घोषणा करा दी जाती थी, पर एक अंतर है। रामजन्म के समय प्रजाजन सहजभाव से सम्मिलित हैं कोई विवशता नहीं है फरमान जारी नहीं हुआ है। यही स्थिति रामविवाह, रामराज्याभिषेक की कल्पना तथा राम के अयोध्या लौटने पर है—राजसी उत्सव का समाजीकरण।

यह दृश्य अधूरा रह जाता यदि चरितनायक राम के दुख विषाद में सामान्यजन शरीक न होते। तुलसी ने इसके असंख्य करुण दृश्य उरेहे हैं—वनवास की सूचना से सारी प्रजा विषादमग्न हो जाती है और जब राम-सीता चले जाते हैं तो 'विकल वियोग लोग पुरतिय कहै, अति अन्याउ अली।'[35] इस संदर्भ में वनमार्ग के अपरिचित ग्रामजन की प्रतिक्रियाएं विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं, जिन्हें तुलसी ने विस्तार दिया है। ग्राम की सहजस्वभावा नारियां पहले राम-सीता-लक्ष्मण के सौंदर्य पर मुग्ध होती हैं, उनसे जुड़ जाती हैं 'मरकत-कलधौत-बरन,

काम-कोटि-कांति हरन'[36] कहती हैं, इस रूपराशि को जीभर निहार लो . 'सखि, नीके कै निरखि कोऊ सुठि सुंदर बटोही'[37] । 'गीतावली' के एक पद में उन्हें 'त्रयी' कहा गया है, कवि के अवचेतन में ब्रह्मा, विष्णु, महेश विद्यमान हैं ।[38] तुलसी ने ग्रामजन के इस प्रसंग को सामान्य कृषकसमाज की प्रतिक्रियाओं के लिए तो इस्तेमाल किया ही है; वह राम-लक्ष्मण सीता को लोकजीवन से सीधे ही जोड़ते हैं। इसीलिए उनके चले जाने पर ग्रामजन उनका सादर, सस्नेह स्मरण करते हैं

जब तें सिधारे यहि मारग लखन राम,
जानकी सहित तब तें न सुधि लही है ।
अवध गए धौं फिरि, कैधौं चढ़े विन्ध्यगिरि,
कैधौं कहु रहे सो कछू न काहू कही है ।[39]

राम का व्यक्तित्व संघर्षों में खुलता है और वन में आकर उसे संपूर्ण दीप्ति मिलती है। निर्वासित राम, प्रिया का हरण, लगभग अकेले, पर यही उनके व्यक्तित्व की परीक्षा का क्षण है और वानरी सेना का साहसपूर्ण संगठन उनकी इसी साहसी योजना का उपक्रम है। मध्यकाल से गुजरते हुए तुलसी के राम जानते हैं कि जीवनसंघर्ष यों ही अकेले नहीं जीता जा सकता, इसलिए वह एक सामाजिक योजना के अंतर्गत क्रियाशील होते हैं, जिसमें वानरी सेना एक महत्वपूर्ण इकाई है। प्रायः भक्तिमार्गी अज्ञान के कारण वन के आदिवासियों, वानरों आदि की सामाजिक भूमिका भुला दी जाती है, पर राम का समाजीकरण करते हुए तुलसी इस दिशा में सावधान हैं। हनुमान उन्हें केवल इसलिए प्रिय नहीं हैं कि वह भरत के बाद सबसे महत्वपूर्ण भक्त हैं, पर राम के सामाजिक संघर्ष में वह उनके सर्वाधिक समर्थ विश्वसनीय चरित्र हैं। उत्तरकांड में राम वानरी साथियों को सराहते हैं

परम प्रीति समीप बैठारे । भगत सुखद मृदु बचन उचारे ।।
तुम्ह अति कीन्ह मोरि सेवकाई । मुख पर केहि बिधि करौं बड़ाई ।।
ताते मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे । मम हित लागि भवन सुख त्यागे ।।
अनुज राज संपति बैदेही । देह गेह परिवार सनेही ।।
सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना । मृषा न कहउं मोर यह बाना।।
सब कें प्रिय सेवक यह नीती । मोरें अधिक दास पर प्रीती ।।[40]

निश्चय ही रामकाव्य के रचयिता, विशेषतया तुलसी जैसे सामाजिक सरोकार के कवि, राम को मध्यकाल के एक नए नायक के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। यह बात दूसरी है कि यहां कवि की भक्तिचेतना बराबर सक्रिय है, पर उसके मूल में सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि मौजूद है। इसीलिए राम देवत्व के बावजूद कुछ स्थलों पर सहज मानवीय भूमि पर आते हैं, जैसे लक्ष्मण के मूर्छित होने पर उनकी पीड़ा। वे समीक्षक जो राम के व्यक्तित्व को लोकधर्म से जोड़कर देखते हैं, इस

बात का आग्रह करते आए हैं कि उनके लोकरक्षक चरित्र पर अधिक ध्यान रखना चाहिए। आचार्य शुक्ल ने इस बात पर बल दिया है 'कि तुलसी ने रामचरित के सौंदर्य द्वारा जनता को लोकधर्म की ओर आकृष्ट किया। इसीलिए राम सदैव न्याय के पक्षधर हैं, अन्याय के विरोध में डटे हुए। समुद्र के प्रति जब उनको क्रोध आता है तो वह लगभग वाल्मीकि के राम की तरह आक्रोश व्यक्त करते हैं। वाल्मीकि के राम कहते हैं शांति, क्षमा, सरलता, प्रियवचन जैसे गुणों को दुष्ट सज्जन के दुर्गुण मान लेते हैं।[42] तुलसी के राम अपने क्रोध के क्षणों में सामाजिक जीवनदर्शन जैसी बात कहते हैं

सठ सन विनय कुटिल सन प्रीती। सहज कृपन सन सुंदर नीती॥
ममतारत सन ग्यान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥
क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बए फल जथा॥

राम : मध्यकाल के जननायक

मेरा विचार है कि तुलसी भक्ति के माध्यम से मध्यकाल के लिए जिस नए जीवन-दर्शन की तलाश कर रहे थे, उसके व्यावहारिक पक्ष के लिए उन्होंने राम की सामाजिकता को बार बार उजागर करने की चेष्टा की और अपने चरितनायक को अधिक से अधिक लोकोन्मुख किया। उनमें जो अलौकिकता है, वह भी मध्य-कालीन परिवेश की उपज है, पर राम की सामाजिकता को सामान्यजन स्वीकारते हैं, उन्हें अपना जननायक मानते हैं

सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥
सुनि सब बाल वृद्ध नरनारी। चलहिं तुरत गृह काजु बिसारी॥
राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयन फलु होहिं सुखारी॥
सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भए मगन देखि दोउ बीरा॥
बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुर मनि ढेरी॥
एकन्ह एक बोलि सिख देही। लोचन लाहु लेहु छन एही॥
रामहि देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं सँग लागे॥
एक नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन बर बानी॥
एक देखि बट छाँह भलि डासि मृदुल तृन पात।
कहहिं गवाँइअ छिनुकु श्रमु गवनब अबहिं कि प्रात॥[43]

राम पर देवत्व का अतिरिक्त आरोपण मध्यकालीन भक्तिचेतना की सीमा है, जिसमें कबीर जैसे जुझारू कवि को भी 'दुलहिन गावहु मंगलचार। मोरे घर आए राजाराम भरतार' जैसे आध्यात्मिक रहस्यवादी भक्तिरति के पद निर्मित करने पड़े। किंतु रामकाव्य में चरितनायक का यदि सही रूप उभारा जाए, तो जब तक उसमें मधुरा भक्ति का अतिरिक्त प्रवेश नहीं हो गया, तब तक वह सांस्कृतिक

चेतना की अगुआई करनेवाले नायक हैं। मूल्यों के स्तर पर तुलसी के राम मध्यकाल के सामंती भोगवाद को ललकारते हैं—स्त्रियों के प्रति सहज आदरभाव, 'जे सपनेहु परनारि न हेरीं', एकपत्नीव्रत का पालन, वन के संघर्षभरे जीवन का वरण, अन्याय का विरोध और रावण को चुनौती देते हुए विभीषण से विजयरथ की चर्चा—सत्य, शील, धैर्य, बल, विवेक आदि।[44] राम को तुलसी कई बार नए सम्राट के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं और उनके लिए वे विरुद काम में लाते हैं जो शहंशाह के लिए प्रयुक्त किए जाते थे, जिसमें 'गरीबनिवाज' उन्हें सर्वाधिक प्रिय है। क्या ? इसके द्वारा कवि व्यंजित करना चाहता है कि शासक वही वरेण्य है जो प्रजा को संतान के समान मानता है। इस संदर्भ में वह राम को केवल व्यक्तिगत त्राणदाता नहीं कहते, उन्हें बड़ी सामाजिकता से जोड़ना चाहते हैं। कहते हैं राम ही मेरा साहिब है, उससे मांगना, मांगना क्या। 'तू गरीब को निवाज, हौं गरीब तेरो। बारक कहिए कृपालु तुलसिदास मेरो।' मध्यकालीन कलिकाल से संत्रस्त होकर वह राजा राम का स्मरण करते हैं, कहते हैं

विनती सुनि सानंद हेरि हंसि करुना-बारि भूमि भिजई है।
रामराज भयो काज सगुन सुभ राजा राम जगत-विजई है।।
समरथ बड़ो सुजान सुसाहिब सुकृत सेन हारत जितई है।
सुजन सुभाव सराहत सादर अनायास सासत बितई है।।
उथपे थपन, उजार बसावन, गई बहोर विरद सदई है।
तुलसी प्रभु आरति-आरतिहर, अभय बांह केहि केहि न दई है।।[45]

राम को सर्वोपरि सम्राट, राजा कहा गया है—समाज में उच्चतर मूल्यों के संस्थापक। तुलसी कहते हैं कि मैंने भूमिपाल, व्यालपाल, नाकपाल, लोकपाल सबके जी की थाह ले ली, पर सबको सेवा-टहल सुहाती है, एक प्रकार की मध्यकालीन दरबारी चाटुकारिता, पर मैं तो केवल महाराज राम के प्रति शरणागत हूं

रीति महाराज की नेवाजिये जो मागनो सो,
दोष-दुख दारिद दरिद्र कै कै छाडिये।
नाम जाको कामतरु देत फल चारि, ताहि,
तुलसी विहाइ कै बबूर रेंड गोडिये।
जाचै को नरेस, देस देस को कलेस करै ?
देहैं तो प्रसन्न ह्वै बडी बडाई बौंडिये।
कृपानाथ लोकनाथ नाथ सीतानाथ,
तजि रघुनाथ हाथ और काहि ओडिये ?[46]

यहीं रहस्य खुलता है कि अकबर जैसे उदार शासक, सुलहकुल दीनइलाही की कल्पना करनेवाले के दरबारियों की सूची में तुलसी अथवा उन जैसे कवि अनुप-

के छोटे टुकडो पर जीनेवाले किसान जो मध्यकालीन सामंतवाद का बोझ ढोते हैं, और गोधन उनका अवलंब, इसीलिए मधुवन, ग्वालबाल, दधिमाखन के असंख्य चित्र। माखनलीला केवल दार्शनिक अनुबंध नहीं है, वह मध्यकालीन ब्रजभूमि की उपज भी है जहा कृषि-चरागाही संस्कृति की प्रधानता थी। हमारे सांस्कृतिक अध्ययन के लिए यह उपयोगी तथ्य है अन्यथा कृष्णकवि भक्ति-अध्यात्म से बाहर नही लाए जा सकेंगे। सूर जैसे जागरूक कवि मानवीय, सामाजिक आशय से संबद्ध हैं और उन्होने ब्रजभूमि के माध्यम से किसानी-चारागाही संस्कृति को उजागर करना चाहा है। एगेल्स ने जर्मनी मे किसानयुद्ध की भूमिका पर विचार करते हुए लिखा है कि छोटे छोटे खेतो को जोतते-बोते किसान रेहन के बोझ से दबे रहते है और जहा भी मझोली और बडी जागीरो का बोलबाला है, वहा गावो मे खेतिहर मजदूरवर्ग ही सबसे बहुसंख्यक वर्ग है।[56] भारतीय मध्यकाल मे लगभग यही स्थिति है।

मध्यकालीन ब्रजसंस्कृति के दो पक्ष हो सकते हैं नगरसभ्यता जिसका प्रतिनिधित्व मथुरा करती है और जिसे गोपिया अपनी त्रासदी पीडा से जोडती हैं। उद्धव से कहती हैं मथुरा काजल की कोठरी है, जो आता है वही छली कपटी।[57] गोपिया मथुरा की नागरिकाओ को कोसती है, कुब्जा पर व्यंग्य करती है, उद्धव से कहती हैं हमे तो कृष्ण की सरसगाथा सुनाओ—हम तो भोली-भाली ग्वालिनें है, निराकार की चर्चा मथुरा मे जाकर करो, जहा ब्रज की चतुर नगरनारिया इसे ग्रहण कर सकेंगी।[58] सूर की रचनाओ मे जो ब्रजमंडल उपस्थित है वह ग्रामजन, कृषकसमाज और चरवाहो की जिंदगी का समाज है, सीधा सादा, सरल, निश्छल। इतना अवश्य है कि सूर की भक्ति चेतना और संवेदनभरी दृष्टि प्राय. भावुक दृश्य ही उभारती है और उनकी संघर्षगाथा यहा अनुपस्थित रह जाती है। पर सूर की सर्जनशीलता यह कि ब्रजमंडल का लगभग समूचा सांस्कृतिक जगत अपने संस्कारो, त्यौहारो, जीवनचर्या की कुछ झाकियो और शब्दावली के साथ यहा प्रवेश कर जाता है।

सूर कृष्णजन्म के साथ ही विभिन्न संस्कारो का वर्णन करते हैं, जो कि लोकजीवन मे प्रचलित थे। राजा नंद के घर बेटा हुआ है तो सारी प्रजा उसमे सम्मिलित है। दान-दक्षिणा आरंभ हो जाती है, एक रंगभरा माहौल। दाई को कचनहार दिया गया है, फिर भी वह पूर्ण संतुष्ट नही और नार-छेदन मे विलंब।[59] नामकरण, अन्नप्राशन, वर्षगाठ, कनछेदन, कलेवा आदि के सभी प्रसंगो को सूर ने लिया है क्योकि गरीबी के बावजूद वे सामान्यजन के जीवन मे समाए हुए थे और फिर यहा तो राजा के बेटे का जन्म हुआ है, युवराज आए हैं। इन प्रसंगो को सूर ने केवल वर्णनात्मक ढंग से कह भर नही दिया है, वरन उन्हें उत्सव के रूप मे देखा है, उनमें सरसता उपजाई है। ज्योतिषीजी कृष्णजन्म का समाचार

सुनकर उपस्थित हैं और सारी गणना के साथ कुंडली तैयार करते हैं[60] जिससे मध्यकालीन हिंदू संस्कारों तथा नियतिवादी आस्था का आभास मिलता है। सूर ने इसीलिए कृष्णगाथा मे जनता के लोकविश्वासो को प्रश्रय दिया है, यद्यपि एक बार कृष्ण का देवत्व स्वीकार लेने पर उनकी स्थिति गौण हो जाती है। मांगलिक अवसरों पर बंदनवार बांधना, चौक पूरना, मांगलिक कलश, वेदध्वनि, मुहूर्त, लग्न आदि की चर्चा है। कई बार ऐसे दृश्य प्रस्तुत किए गए है, जैसे बधाई मे :

सिर पर दूब धरि, बैठे नंद सभा मधि द्विजनि कौं गाइ दीनी बहुत मगाइकैं।
कनक को माट लाइ, हरद-दही मिलाइ, छिरकैं परस्पर छल-बल धाइ कै।[61]

ब्रज के उत्सवो को सामाजिकता प्रदान करना सूर के काव्य को जनसामान्य से जोड़ता है। प्राय वसत, होली आदि के आध्यात्मिक अर्थ खोजकर प्रसंग का सरलीकरण किया जाता है पर कवि जिस ग्वालसमाज को केंद्र मे रखकर काव्य-रचना कर रहा है, उसके मुफलिस जीवन मे ये उत्सव आमोद-प्रमोद के इने-गिने रंगभरे क्षण हैं। इनमें एक पल के लिए ही सही, वह अपने अभावो की दुनिया से बेखबर हो जाता है। ब्रजभूमि मे दधिकांधौ का विशेष महत्व है जो सीधे ही ग्वाल-संस्कृति से जुड़ा हुआ है—दही, हल्दी मिलाकर अतिथियो का स्वागत। गोवर्धन-पूजा भी ब्रजमंडल का स्थानीय उत्सव है, जिसकी ओर हम संकेत कर आए हैं। सूर ने इसे विस्तार दिया है और उसे एकसौ से अधिक पद दिए हैं क्योंकि वह इसके माध्यम से कृष्ण का लोकरक्षक रूप भी उभारना चाहते हैं। पर इसे इंद्र के प्रति विद्रोह के रूप मे भी देखा जा सकता है। कृष्ण कहते हैं गिरिराज गोवर्धन बड़ा देव है, इसी को पूजो, देवराज इंद्र को नहीं।[6] आशय है कि पृथ्वी के देवता को पूजना चाहिए, आकाश के अदृश्य देव नहीं। इस विद्रोह का परिणाम है इंद्र का क्रोध, भयंकर जलप्लावन और फिर वही गोवर्धन उनकी रक्षा करता है, जिसका पूजन हुआ था। सूर इस माध्यम से जड़ परंपराओ की चुनौती देते दिखाई देते हैं और लोकरंजक कृष्ण का रक्षक रूप उजागर करते हैं।

सूर में फाग के दृश्यो की बहुलता है और इनको इतना व्यापक रूप मिला कि रामकाव्य पर भी इसका प्रभाव पड़ा। इसी क्रम मे झूलन-वसतलीला आदि के शृगारी दृश्य भी हैं। सावन के दिनो मे झूले झूलना ब्रज की लोकप्रिय दृश्यावलि है और इसी परंपरापालन के लिए कृष्ण को पालने पर झुलाया तक जाता है। हिंडोले के अनेक पदो मे सूर ने माधुर्यभरे दृश्य उभारे हैं : 'जमुना-पुलिन रच्यौ हिंडोर'[63] 'झूलत स्याम स्यामा संग'[64]। वसंत मे ब्रज की प्रकृति एक नया सौंदर्य पा जाती है, कोकिल के मीठे शब्द, मानो कामदेव जागा है। ऐसे माहौल में रसिकेश्वर कृष्ण ही नहीं, सभी वसंतमय हो जाते हैं और इस पीठिका पर तैरता हुआ फागुन तो सबको जैसे पागल कर जाता है। सूर ने इसे सार्वजनिक रूप दिया है। सभी उसमे सम्मिलित हैं. 'हरि संग खेलति हैं सब फाग'। कवि

ने फाग की रचना करते हुए लोकगीतों का भरपूर उपयोग किया है, जिससे ज्ञात होता है कि वह लोकजीवन में कितना गहरे उतरा हुआ है। सूरसागर के कई पद इस दृष्टि से लोकगीतों का अनुसरण करते हैं यद्यपि उसे काव्यरूप दे देते हैं।[65] सौ से अधिक पदों में सूर ने झूलन, वसंत, होली का वातावरण प्रस्तुत किया है। इनमें संगीत, नृत्य, आनंद, उल्लास, रंग, अबीर, गुलाल आदि का रंगजगत है और निम्नलिखित पद में सब सम्मिलित हैं :

खेलत फागु कुंअर गिरिधारी।
अग्रज, अनुज, सुबाहु, श्रीदामा, ग्वाल बाल सब सखाऽनुसारी ॥
इत नागरि निकसी घर घर तें दै आगैं वृषभानु दुलारी।
नव-सत सजि ब्रजराज-द्वार मिलि प्रफुलित बदन भीर भई भारी ॥[66]

सामान्यजन की हिस्सेदारी

संस्कृति के निर्माण में कई बार अभिजातवर्ग को प्रमुखता दी जाती है, पर भारतीय जीवन में कृषक समाज की बहुलता है और वह संस्कृति की पुनर्रचना में कौन सी भूमिका निभाता है इसे प्रायः भुला दिया जाता है। सूर में कृषक-समाज, विशेषतया ग्वालजन की मुख्य भूमिका है और वे कृष्णगाथा के अनिवार्य उपादान हैं। क्षत्रियवंशी कृष्ण भी गोकुल पहुंचकर उस कृषकसमाज तथा ग्वाल-जीवन में समरस हो जाते हैं। राधा के प्रसंग में कहा जा चुका है कि विद्वान यह भी अनुमान करते हैं कि संभव है यायावर आभीरों की जाति में वह इष्टदेवी रही हो। गुजरात में आभीर सक्रिय थे, पर लोग उन्हें ब्रजमंडल तक ले आते हैं। पशु-पालन पर आश्रित यह ग्वालमंडल कृषकसमाज का अंग है और सूर ने अपने काव्य में इसे पूरी निष्ठा से व्यक्त किया है। शोधकर्ताओं ने कृष्णकाव्य की संपूर्ण शब्दसूची देकर सांस्कृतिक दृश्य स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

सूर कृष्ण के लोकरंजक रूप को अधिक प्रकाशित करते हैं, इसलिए संक्षेप में उनका जन्म दिखाकर उन्हें गोकुल पहुंचा देते हैं और यहां लगभग आरंभ से ही वे कृषक-चरवाहा समाज के बीच लीलारत हैं। नंद यादवों के राजा हैं, इसलिए कृष्णजन्म के समय सारा ग्वालमंडल आनंद मनाता है। घोषणा कर दी जाती है

आज बन कोऊ वै जनि जाइ।
सब गाइन बछरनि समेत, लै आनहु चित्र बनाइ ॥
ढोटा है रे भयो महर कैं, कहत सुनाइ-सुनाइ।
सबहि घोष मैं भयो कुलाहल आनन्द उर न समाइ ॥[67]

सूरसागर में ग्वालबाल, गोपिकाएं, गौएं, वृंदावन, चरागाह, दूध, दधि, माखन सब कृषि चरागाही संस्कृति को उजागर करते हैं और प्रायः भक्ति तथा

अध्यात्म की चर्चा म सामान्यजन के इस परिवेश को भुला दिया जाता है। माना, कृष्ण म देवत्व है, पर वह सामान्यजन के बीच सहज भाव से विहार करते हैं—समरस होकर लगभग अपना पार्थक्य खो देते हैं। और यदि वह देवत्व मडित न होते तो भी जननायक रूप मे उनका यह प्रजातात्रिक व्यवहार सराहनीय है। माखनचोरी, रासक्रीडा आदि के प्रसग मे कृष्ण का जो जनतात्रिक रूप उभरता है, उसे नही भुलाना चाहिए। मेरा विचार है कि दार्शनिक मतव्यो से भी अधिक सास्कृतिक तथ्य इसमे सन्निहित है और इस दृष्टि मे कृष्ण की लीलाए लोक-जीवन से विच्छिन्न नही हैं, यद्यपि उनका आशय उदात्त है।

ग्वालबाल, गोपियो के अनेक दृश्य उभारकर और कृष्णगाथा का मुख्य पात्र बनाकर सूर ने गौवो को भी उसका एक अभिन्न अग बना लिया है। वृंदावन का गोचारण सूरसागर का एक प्रिय प्रसग है। कृष्ण उत्साहित हैं कि गाय चराने जाऊंगा 'वृंदावन के भाति भाति फल अपने कर मैं खैहौं।'[68] किसान अथवा चरवाहे की जिंदगी कि ग्वालिन भोजन लाई है और सान सान कर दधि भात खाया जा रहा है।[69] अपनी गायों के प्रति कृष्ण की ममता है, वह कहते हैं 'मैं अपनी सब गाइ चरैहौ।'[70] सूर गायों को सचेतन कर देते हैं मुरली का शब्द सुनते ही वे दौडी चली आती हैं और गाए भी अनेक प्रकार की धौरी, धूमरि, रानी रौंठी, चिन्हौरी, पियरी, मौरी गोरी, गैनी, खैरी, कजरी आदि।[71] कृष्ण ग्वालजन के बीच किसान-चरवाहे का रूप धारण करते हैं 'कान्ह काधे कामरिया कारी, लकुट लिए कर घेरे हो।'[72] कृषक-चरवाहा जीवन चित्रित करते हुए सूर ने उनके जीवनदृश्य उभारकर उसे अधिकाधिक प्रामाणिक बनाना चाहा है और शब्दावली तो लगभग वही से प्राप्त कर ली है। कृषकजीवन का उपयोग एक प्रार्थनापद म है

प्रभु जू, यौं कीन्हीं हम खेती।
बजर भूमि, गाउं हर जोते, अरु जेती की तेती॥
काम क्रोध दोउ बैल बली मिलि रज-तामस सब कीन्हौ।
अति कुबुद्धि मन हाकनहारे माया जूआ दीन्हौ॥
इद्रिय मूल-किसान महातृन-अग्रज-बीज बई।
जन्म जन्म की विषय-बासना, उपजत लता नई॥[73]

इस पद मे अधिकारी, जमानत, पटवारी, बटाई, लुनाई, वर्षा आदि का उपयोग हुआ है जिससे कृषकसमाज उजागर होता है। निर्मला सक्सेना ने 'सूरसागर शब्दावली' मे कृषि सबधी शब्दो का विवेचन किया है। वास्तव मे सूर अथवा भक्तिकालीन अन्य प्रमुख कृष्णभक्त कवियो का मुख्य आधार ही कृषक-चरवाहा समाज है जिसकी अभिव्यक्ति विविध रूमानी ढग म हुई है। हम स्वीकारते हैं कि ब्रजमडल अपने यथार्थ मे यहा कम उपस्थित है क्योंकि कृष्ण का सरस रूप

इसका अधिक अवसर भी नही देता। शोधकर्ताओ ने कृष्णकाव्य से शब्द सकलित करके उनके वर्गीकरण के द्वारा व्रजसस्कृति के विभिन्न उपादानो की चर्चा की है, जिससे सकेत मिलता है कि कवि अपनी भूमि से कितनी गहराई तक जुडे है। हमारा प्रयोजन उस शब्द समूह की पुनरावृत्ति करना नही है, हम उस सामाजिक-सास्कृतिक चेतना को रेखाकित करना चाहते हैं जो राम-कृष्णकाव्य मे सक्रिय है। अष्टछापी कवियो के अतिरिक्त वल्लभ, चैतन्य, निबार्क, हरिदासी, राधावल्लभीय सप्रदाय के अन्य कवियो की रचनाए कृष्ण के रसिक रूप को उभारती है।

नागर परिवेश और रचना

राम कृष्णकाव्य जिस मध्यकाल से यात्रा करता है उसमे समाज दो स्पष्ट भागो मे विभाजित है और बीच मे कही एक छोटा सा मध्यवर्ग भी। शहशाह को केंद्र मे रखकर विकास पाता सामती समाज, उच्च अधिकारीवर्ग, सामत दरबारी, मनसबदार, सूबेदार, जागीरदार, अमीर-उमरा, जमीदार आदि और इनकी विलास सामग्री जुटाने के लिए व्यापारीवर्ग। इतिहासकारो ने स्वीकारा है कि मध्यकालीन शासक अपने चारों ओर जो सामती व्यूह बना रहे थे, उसके कारण नगरो का अधिकाधिक विकास हो रहा था और क्रमश एक नगरसभ्यता पनप रही थी। राजदरबार को हम मध्यकालीन उच्चवर्ग के हितो का रक्षक प्रतीक कह सकते हैं। सल्तनतकाल मे प्राय मुसलमानो का प्रवेश था, पर धीरे धीरे हिंदुओ को भी सम्मिलित किया जाने लगा और अकबर ने इसे सर्वाधिक प्रश्रय दिया। इस प्रकार जातीय सीमाओं को तोडते हुए सामती समाज का सगठन राजाश्रय म हुआ। हुमायू पर फारसी प्रभाव का उल्लेख किया जाता है और उसकी सपूर्ण सहिता मुगल दरबारो म दुहराई जाने लगी, एक औपचारिक अभिजातवर्गीय वातावरण। यहा तक कि राजदरबार की रस्म निभाने के लिए कई बार दरबारियो को स्वय पर बहुत दबाव डालना पडता था।

सामतो, अमीर-उमरा आदि का तबका मध्यकालीन भारतीय इतिहास मे कितना शक्तिशाली था, उसकी ओर सकेत किया जा चुका है। इतिहासकार कहते हैं कि अलाउद्दीन ने इस विशिष्टवग के खतरे को पहचाना और इसीलिए उसने हिंदू उमरा भी बनाए। मुहम्मद तुगलक ने बाहर से उमरा बुलाने की कोशिश की।[74] उच्च सामतवर्ग के लिए जिस विलासी जीवन की लगभग अनिवार्यता थी, उसकी पूर्ति के लिए नगरसभ्यता निर्मित हुई।[75] अमीर उमरा के बेशकीमती कपडे, उन पर सोना, चादी, जरी का काम आदि। नगरो के निर्माण मे मध्यकाल मे जिस नए स्थापत्य को विकास मिला, उसकी अपनी भूमिका है और राजमहल तो जैसे स्वय एक सपूर्ण नगर। सचाई यह है कि मध्यकालीन सामती उच्चवर्ग की

एर अपनी पूरी जिंदगी थी—विलास मे मग्न, और इसके विवरणो म जाए बिना कहा जा सकता है कि कला, स्थापत्य, नगरसंस्कृति, शिल्प रचना आदि को उनसे प्रश्रय प्राप्त हुआ, उसने उन क्षेत्रो म नए उत्कर्ष दिए। नूरुल हसन की टिप्पणी है कि सांस्कृतिक क्षेत्र मे शाही दरबार और जमीदारो के निकट सबधो के कारण मध्यकाल मे विभिन्न क्षेत्रो, जातियो तथा नगर ग्राम सभ्यताओ के बीच एक सांस्कृतिक मेल-जोल स्थापित हुआ।[76] यद्यपि यहीं उनकी मार्क्सवादी दृष्टि सामतवाद के अतर्विरोधो की ओर भी सकेत करती है स्वय सामतो की अपनी महत्वाकाक्षाए।

मध्यकालीन सामती नगरसभ्यता भक्तिकाव्य, विशेषतया राम-कृष्णकाव्य में किस प्रकार आई है, इसके विषय मे शोधकर्ताओ ने काफी परिश्रम करके सामग्री जुटाई है और लगभग एक शब्दकोष ही तैयार कर दिया है। इसमें उन असख्य शब्दों की सूची मिल जाती है—तीज-त्योहार, टोना टोटका, वस्त्र आभूषण, रोजमर्रा के उपयोग का सारा साज-सामान। पर हमारा प्रयोजन उस सामाजिक-सास्कृतिक चेतना का सकेत करना है, जिसकी अभिव्यक्ति इस शब्दसमूह के द्वारा होती है, क्योकि भाषा सामाजिक सपत्ति है, वैयक्तिक प्रयत्न नही। इस सदर्भ म नगरसभ्यता जिस रूप में इन रचनाओ मे प्रक्षेपित है, उस पर दृष्टि रखनी होगी क्योंकि उसे मध्यकालीन सामती समाज का प्रतिनिधित्व करते देखा जा सकता है। इतिहासकारो ने लाहौर, दिल्ली आगरा, बनारस, पटना जैसे नगरों का उल्लेख करते हुए स्वीकारा है कि भारत के मुस्लिम शासको का ध्यान नगरसभ्यता की ओर था।[77]

राम, कृष्ण का समानातर नेतृत्व

दो प्रमुख चरितनायक राम, कृष्ण के सदर्भ मे हम कह चुके है कि कवियो ने लगभग राजनीतिक शासको के समानातर नायक रूप म इनकी कल्पना की और वे उनके आध्यात्मिक लोकनायक हैं—इसलिए बार बार राजा, महाराज, गरीबनेवाज, कृपालु, साहिब आदि का प्रयोग। इस समानातरता के कारण राम का अपना दरबार है और कृष्ण की अपनी भक्तमडली। केवल यह कह देने से हमारा प्रयोजन सिद्ध नही हो सकता कि मुगलकालीन वैभव विलास के कुछ चित्र तत्कालीन काव्य में भी प्रवेश पा गए हैं। यह तो इतिहास के दबावो की स्वाभाविक प्रक्रिया है। देखना यह है कि दृष्टिभेद कहां है, क्योकि वास्तविक महत्व उस प्रस्थानबिंदु का होता है जहां से रचना अपनी सर्जनशीलता आरभ करती है और यह भी विचारणीय है कि उसका मतव्य क्या है ? प्रयोजन अथवा 'मोटिव' को नजरअदाज नही किया जा सकता क्योकि कई बार मुखौटो का इस्तेमाल किया जाता है जिन्हें बेनकाब करना जरूरी होता है। मार्क्स कवियो मे उनके समय का मुहावरा अपने

सही सदर्भो के साथ प्रस्तुत होता है और उसका साक्षात्कार जरूरी है, क्योंकि रचना शब्दकोष नही है, वह अपने युग को उजागर करने का सरोकार है।

सूर, तुलसी के सदर्भ मे हमने कहा है कि जनजीवन से जुडे होने के कारण उनमे सामान्यजन उपस्थित हैं तथा कृषकसमाज वहा प्रमुखता पाता है। कवियो ने मध्यकालीन नगरसमाज राजदरबार को अपनी रचनाओ मे विलासी स्वीकृति नही दी, बल्कि उनके सदर्भ बदलने की चेष्टा की। भक्तकवि समानातर शहशाह की कल्पना करते हैं तो फिर उनके मध्यकालीन सभार कैसे छूट सकते है? कबीर ज्यादा फक्कड थे इसलिए वह फारसी उर्दू शब्दो का प्रयोग करते हुए भी राजसी स्थिति से बच निकलते हैं पर अन्य कवियो पर मध्यक ल का राजसमाज अपनी छाया डालता है। जो कवि राजाश्रय से दूर हैं वे अपने आध्यात्मिक शहशाह की योजना करते है और उनके लिए पूरी व्यवस्था बनाते है। 'विनयपत्रिका' मे दरबार का नया आध्यात्मिक जगत वर्तमान है। कवि राजा राम के दरबार मे अरजी प्रस्तुत कर रहा है—अनुनय विनय, पश्चाताप, ग्लानि सब यहा मौजूद हैं। आरभ म शिव की विशेष स्तुति क्योंकि वह सर्वोपरि दानी हैं 'दानी कहु सकर सम नाही।'[78] इनके माध्यम स रामकृपा की याचना की जा रही है बिन तव कृपा रामपद पकज, सपनेहु भगति न होई'। तुलसी कहते हैं

सिव ! सिव होइ प्रसन्न करु दाया।
करुनामय उदार कीरति बलि जाउ हरहु निज माया।।
जलज-नयन, गुन-अयन, मयन रिपु महिमा जान न कोई।
बिनु तव कृपा राम पद पकज, सपनेहु भगति न होई।।'[79]

शिव, देवी, गगा से प्रार्थना करते हुए कवि अपने राम तक जाना चाहता है—आराध्य के आध्यात्मिक दरबार मे पहुचने के लिए माध्यम तलाश रहा है। जो भी राम से किसी भी रूप म जुडा है उसका सादर स्मरण करता है, यहा तक कि चित्रकूट का भी। एक पद म शुभ कर्मों के द्वारा कलियुग के लौकिक राजा की पराजय की बात कही गई है।[80] राम तुलसी के समक्ष अपनी विनयपत्रिका यों ही सीधे सीधे नही प्रस्तुत कर देते पहल मा सीता से निवेदन करते है—करुणकथा के साथ

कबहुक अब अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी कछु करुनकथा चलाइ [81]

अगले पद म इसी विनय को दुहराया गया है 'कबहु समय सुधि द्याइबी मेरी मातु जानकी।'[8] 'विनयपत्रिका' को प्राय तुलसी की दास्यभक्ति से जोडकर सतोष कर लिया जाता है पर मेरा विचार है कि इस प्रकार का जागरूक कवि केवल दैन्यविनय निवेदन मे सतोष नही कर सकता, उसम सामाजिक-सास्कृतिक चेतना पर्याप्त सक्रिय है। बार बार कलियुग का उल्लेख सामयिक सदर्भों की ओर इशारा है।

मध्यकालीन यथार्थ पूरी भयावहता में उपस्थित है : दारिद्र्य, दुख, पाप, तीनों तापों से जलता संसार, राग-मोह मद में फंसे क्रोधी ब्राह्मण जिन्हें महिदेव कहा जाता था, कामी, अज्ञानी, लोभी, अहंकारी हो गए हैं, राजसमाज कुचाल से भर गया है।[83] ऐसी स्थिति में तुलसी कहते हैं कि राम का नाम ही माता, पिता, सुजन, सनेही, गुरु, साहिब, सखा, सुहृद है। 'विनयपत्रिका' में वह कहते हैं : 'प्रीतिपहिचानी, यह रीति दरबार की।'[84] एक पद में वह साधारण लोकपालों पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि मैंने जगत के साहिबों, स्वामियों को अच्छी तरह जान लिया है, वे थोड़े में ही प्रसन्न हो जाते हैं और थोड़े में ही रुष्ट (गरम)। पूरा पद उद्धृत किया जाता है, जिसके आरंभ में साधारण सामंती आश्रयदाताओं पर टिप्पणी है और फिर राम का कृपालु रूप :

भली भांति पहिचाने-जाने साहिब जहां लौं जग,
जूड़े होत थोरे, थोरे ही गरम।
प्रीति न प्रबीन, नीतिहीन, रीति के मलीन,
मायाधीन सब किये कालहू करम।
दानव-दनुज बड़े महामूढ़ मूड़ चढ़े,
जीते लोकनाथ नाथ बलनि भरम।
रीझि रीझि दिए बर, खीझि खीझि घाले घर,
आपने निवाजे की न काहू को सरम।
सेवा सावधान तू सुजान समरथ साचो,
सदगुन धाम राम ! पावन परम।
सुरुख, सुमुख, एकरस, एकरूप तोहि,
बिदित बिसेषि घटघट के मरम।
तोसो नतपाल न कृपाल न कंगाल मो सो,
दया में बसत देव सकल धरम।
राम कामतरु छाइ चाहै रुचि मन मांह
तुलसी बिकल बलि, कलि कुधरम ॥[85]

आध्यात्मिक राजत्व की कल्पना

यहां मध्यकालीन सामंत और आध्यात्मिक मूल्यों के समुच्चय राजा राम का प्रसंग स्पष्ट है। राम को लोकपति, लोकनाथ कहा गया है[86] और अनेक प्रकार से उनके प्रति समर्पणभाव व्यक्त किया गया है। राजाराम का समानांतर दरबार है, उनके अपने सभासद हैं—भक्तिपरिचायिन। चित्रों में प्रायः राम सीता सिंहासन पर विराजमान हैं, पार्श्व में भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, चरणसेवक हनुमान। मानस के अयोध्याकांड में 'राम-भरत प्रसंग' में सभा का दृश्य है :

गुरु पद कमल प्रनामु करि बैठे आयसु पाइ।
विप्र महाजन सचिव सब जुटे सभासद आइ॥
बोले मुनिवर समय समाना। सुनहु सभासद भरत सुजाना॥
धरम धुरीन भानुकुल भानू। राजा रामु स्वबस भगवानू॥[87]

राजा राम के दरबार (सभा) का पूरा माहौल एक आचारसंहिता से बंधा हुआ है : सर्वप्रथम वसिष्ठ बोलते हैं संयत, शालीन और भरत के माध्यम से समस्त अयोध्या का पक्ष प्रस्तुत करते हुए। भरत के वचनों में संपूर्ण विनयभाव है . 'पुलकि शरीर सभा भए ठाढ़े। नीरज नयन नेहजल बाढ़े।' वह कहते हैं : 'साहिब सिय रामू।' पूरी सभा वनखंडी के इस करुणदृश्य में सम्मिलित है : 'भरत वचन सुनि देखि सनेहू। सभा सहित मुनि भए बिदेहू।' अथवा

सुनि अति बिकल भरत बर बानी। आरति प्रीति बिनय नय सानी॥
सोकमगन सब सभा खभारू। मनहुं कमल बन परेउ तुसारू॥[88]

राम का आचरण इस जटिलताभरे अवसर पर विचारणीय है : एक ओर भरत का स्नेह, दूसरी ओर राम का नैतिक दायित्व। वह भरत के प्रेम को सराहते हैं, यहां तक कहते हैं 'मन प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।' यहां तुलसी भरत के माध्यम से राजा राम को साधारण लोकपालों से ऊपर उठाते हैं; भरत कहते हैं .

जग अनभल भल एकु गोसाईं। कहिअ होइ भल कासु भलाईं॥
देउ देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥
आइ निकट पहिचानि तरु छांह समनि सब सोच।
मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच॥[89]

उत्तरकांड में रामराज्याभिषेक के अवसर पर राजाराम का दिव्य सिंहासन है, जिसका तेज सूर्य के समान था।[90] राम का असाधारण व्यक्तित्व है : मुकुट, आभूषण, सुंदर वस्त्र। बंदी-चारण के रूप में स्वयं चतुर्वेद उपस्थित होते हैं आदि। इस प्रकार रामकाव्य में राम राजा के रूप में प्रतिष्ठित हैं, आध्यात्मिक मूल्यों के प्रतीक बनकर। रामराज्य की कल्पना तुलसी में इसी आशय से की गई है, दृश्य को पूर्णता देने के लिए। उन्होंने श्रेष्ठ राजा के आदर्श राम में प्रतिष्ठित किए और कहा :

मुखिया मुख सो चाहिए, खान पान को एक।
पालै पोषै सकल अंग, तुलसी सहित विवेक॥[91]

कृष्णकाव्य में मध्यकालीन सामंती परिवेश अधिक प्रवेश पा सका है क्योंकि रूमानी प्रसंगों के कारण यहां उसकी गुंजायश अधिक है, पर कवि सावधान है कि आराध्य का देवत्व सुरक्षित रहे। सूर ने अपने कृष्ण के दरबार की जनतांत्रिक कल्पना की है, जहां सबका अबाध प्रवेश है : 'जाति-पांति कोउ पूछत नाहीं श्रीपति के दरबार।'[92] अष्टछाप का सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि सभा,

राजसभा, दरबार आदि का प्रयोग तत्कालीन परिवेश की उपज है, यहा तक कि सूर ने एक पद मे सभा या दरबार के लिए 'हजूर' शब्द का प्रयोग किया है।[93] इस सदर्भ मे परमानददास, कुभनदास, नददास आदि के भी उद्धरण दिए जा सकते हैं—राजा कृष्ण और उनका राजसी व्यक्तित्व। 'जहा राखो तहा रहू चरन तर परयो रहू दरबार।'[94] इसी के अगले पद मे परमानददास कृष्ण को 'देवाधिदेव' कहकर सबोधित करते हैं 'सख चक्र सारग गदाधर रूप चतुर्भुज आनदकदा।'[95] वह 'ठाकुर' कहा गया है और छत्रधारी भी 'जाके छत्र अकास सिंघासन, वसुधा अनुचर सहस अठासी।'[96]

प्रयोगों के नए सदर्भ

राम-कृष्ण कवियों ने मध्यकालीन सामती परिवेश स जो शब्द प्राप्त किए है, उनका सकलन कई शोधकर्ताओ ने पर्याप्त श्रम से किया है। हमारा आशय यहा यह स्पष्ट करना है कि इन शब्दो को नए सदर्भ दिए गए हैं। वजीर, दीवान, कोतवाल, काजी, पटवारी, मुसाहिब आदि मध्यकालीन राजकीय व्यवस्था के अभिन्न अग हैं, पर जैसा कहा जा चुका है भक्तकवियो के अपने हृदयसम्राट हैं, इसलिए वे इन सबका प्रयोग नए सदर्भ मे करना चाहते हैं। कबीर ने पचेंद्रियो को कोतवाल कहा है, सूर कहते हैं

जनम साहिबी करत गयौ।
काय नगर बडी गुजाइस, नाहिन कछु बढ्यौ॥
हरि कौ नाम, दाम खोटे लौं, झकि झकि डारि दयौ।
विषया गाव अमल कौ टोटौ, हसि हसि कै उमयौ॥
नैन-अमीन, अधर्मिनि कै बस, जह को तहा छयौ।
दगाबाज कुतवाल काम रिपु, सरबस लूटि लयौ॥[97]

इसी प्रकार 'प्रभु जू यौं कीन्ही हम खेती' पद[98] मे कृषक शब्दावली का पूरा उपयोग करते हुए उसे नए सदर्भ दिए गए है

पच प्रजा अति प्रबल बली मिलि मन विधान जो कीनौ।
अधिकारी जम लेखा मागै तातैं हौं आधीनौ॥
घर मैं गथ नहिं भजन तिहारो जौन दियैं मैं छूटौं।
धर्म जमानत मिल्यो न चाहै तातैं ठाकुर लूटौं॥
अहकार पटवारी कपटी, झूठी लिखत बही।
लागै धरम, बतावै अधरम, बाकी सबै रही॥[99]

यहा हम एक सकेत विशेष रूप से करना चाहेंगे कि कृष्ण गोकुल के हृदयसम्राट हैं, जनमानस के पूज्य। पर जब वे मथुरा मे राजपदवी पा जाते हैं तो गोपिया उनकी परिवर्तित मनोभूमि पर व्यग्य करती हैं, जैसे नददास ने 'भवरगीत' मे।

'मथुरा को अधिकार पाय महाराज भए हो।'[99] सूर की गोपिकाएं कहती हैं हमने गोकुलनाथ की आराधना की,[101] वे व्रजनाथ है,[102] पर अब मोहन मथुरा के राजा हो गए हैं।[103] गोपियों का व्यंग्य है राजा भए तिहारे ठाकुर, अरु कुबिजा पटरानी,[104] हरम का बोध करानेवाली तीखी टिप्पणी। मध्यकालीन जातिवाद गोपियों पर भी हावी दिखाई देता है क्योंकि वे कुब्जा की दासी-बिरादरी पर फब्ती कसती हैं और कृष्ण को भी नहीं छोड़ती : 'जातिहीन कुलविहीन, कुबिजा वं दोऊ'।[105] इस प्रकार स्पष्ट है कि मध्यकालीन सामंती शब्दावली को भक्तकवियों ने नए संदर्भों में प्रयुक्त किया जो उनकी सामाजिक सांस्कृतिक जागरूकता का परिचायक है। इसे केवल राजसी सामंती प्रभाव न कहकर, जनता के बीच से पाए गए मुहावरे के रूप में देखना चाहिए क्योंकि उनका प्रचार-प्रसार हो चला था।

संस्कृति की मिली-जुली अभिव्यक्ति

राम-कृष्णकाव्य में प्रतिफलित समाज, संस्कृति का चित्रण करते हुए प्राय रचनाओं में उपस्थित कुछ दृश्य दृष्टांत रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं और शब्दसंकलन के माध्यम से कहा जाता है कि समाज यहां उपस्थित है। शब्दकोष हमारी सहायता करते हैं और यहां हमारा प्रयोजन उस शब्दराशि को दुहराना नहीं है जो कई शोधकर्ताओं द्वारा प्रस्तुत की जा चुकी है। रचना यदि अपने समय और समाज का सही दस्तावेज है तो तत्कालीन मुहावरे को नकारना संभव नहीं, पर जैसा कि हम अभी कह आए हैं कवि इन्हें नया संदर्भ देते आए हैं। यहां हमारा मुख्य प्रयोजन यह देखना है कि राम कृष्णकाव्य में जो समाज, संस्कृति उपस्थित है, उसकी मूल बनावट क्या है? प्राय सांस्कृतिक मेल-जोल या समन्वय की बात करते हुए कबीर अथवा जायसी जैसे कवियों का विशेष उल्लेख किया जाता है, क्योंकि इसमें सुविधा होती है। पर राम कृष्ण काव्यधारा से संबद्ध कवियों को हिंदू समाज तक सीमित रखना अधूरा साक्षात्कार है और उन्हें एक प्रकार की पुरातनपंथी दृष्टि से जोड़ने का उपक्रम है, जबकि वास्तविक स्थिति ऐसी नहीं है। मध्यकालीन इतिहास-समाज से गुजरते हुए पता चलता है कि सल्तनतकाल का अलगाव मुगलकाल में कम हो चला था और लगभग सभी समझदार इतिहासकार स्वीकारते हैं कि अकबर को यह गौरव देना होगा कि उसने सांस्कृतिक सौमनस्य को उसकी पूर्णता पर पहुंचा दिया। आबिद हुसैन इसे 'हिंदुस्तानी संस्कृति' कहकर संबोधित करते हैं और लिखते हैं कि वास्तव में अकबर राष्ट्रीय संस्कृति का निर्माता है। इस समय धर्मनिरपेक्ष राज्य की कल्पना को बल मिला और एक समान भाषा की खोज हुई।[106] सामाजिक दबावों की यह अनिवार्य परिणति है।

स्थिति यह है कि भक्तिकाव्य का सर्वोत्तम इस सांस्कृतिक मेल-जोल पर आधारित है और राम-कृष्णकाव्य को इससे अलगाकर देखना उचित नहीं। हां, दृष्टिभेद अवश्य है और इसका एक सामाजिक कारण यह भी है कि जिस समय संत-कवियों ने वर्णाश्रम व्यवस्था, जातिवाद, धार्मिक कट्टरता, पाखंड आदि पर आक्रमण किया, उस समय के सल्तनतकाल की स्थिति निश्चित ही अधिक विशृंखल थी, पर मुगलकाल ने एक व्यवस्थित समाज बनाने की चेष्टा की, यद्यपि उसका ढांचा सामंती ही है। शहंशाह अथवा बादशाह केंद्रीय आधार था, जिसके चारों ओर एक नई मिली-जुली संस्कृति का उदय हुआ। यह प्रभाव लगभग संपूर्ण अभिव्यक्ति पर देखा जा सकता है—स्थापत्य, संगीत, कला आदि। मध्यकालीन बाउलों की चर्चा करते हुए आचार्य क्षितिमोहन सेन का विचार है कि हिंदू मुसलमानों के निम्नतम वर्ग इसमें सम्मिलित हैं और इसीलिए ये दोनों प्रमुख जातियों में सम्मानित नहीं हैं। ये जातिबंधन को अस्वीकारते हैं और साधना की बाह्य आचारसंहिता नहीं मानते।[107] इतिहास, समाज की स्थिति से ज्ञात होता है कि मुगलकाल में वह परिवेश पनपा जिसमें देशी भाषाओं को अपना व्यक्तित्व पूर्णता पर ले जाने में सहायता मिली। डा० रामप्रसाद त्रिपाठी की टिप्पणी है कि 'आइने अकबरी' के अनुसार अकबर के शासन के नवें वर्ष, 1564 ई०, में जजिया के हटाए जाने का जो उल्लेख है वह भारतीय मुस्लिम इतिहास में महत्वपूर्ण औपचारिक घोषणा है, जब शासन ने जजिया पर अपना अधिकार छोड़ दिया। इस प्रकार वह फीरोज से एक कदम आगे गया। इसके लिए बड़े नैतिक साहस की जरूरत थी और मुस्लिम इतिहास में इस नए युग का सूत्रपात कहा जा सकता है।[108]

निश्चित ही मुगलकाल में वह परिवेश निर्मित हुआ कि रचना अधिक खुली भूमि पर सक्रिय हो सके। अनेक दिशाओं में रचनाशीलता की अभिव्यक्ति इसे प्रमाणित करती है क्योंकि लगभग सभी क्षेत्रों में सर्जन ने नई ऊंचाइयां पार कीं। इसे मध्यकालीन जागरण कहा जाना चाहिए, मिली जुली संस्कृति का प्रतीक। प्रायः इसके प्रतीक रूप में संतों आदि का उल्लेख करके बात खत्म कर दी जाती है, पर प्रश्न है कि राम कृष्णकाव्य में इसकी अभिव्यक्ति किस रूप में हुई? इस समस्या का समाधान केवल शब्दों की चर्चा से नहीं पाया जा सकता। देखना यह होगा कि रचना में सांस्कृतिक सौमनस्य किस प्रकार व्यंजित हुआ है और हम मानते हैं कि विष्णु के दो प्रमुख अवतारों से जुड़ने के कारण यह पहचान कठिन है। इसका एक उदाहरण इतिहासकारों की भूल से देना चाहूंगा। युसुफ हुसैन ने मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति की चर्चा करते हुए रामानुज को एक रूढ़िवादी हिंदू कहा है,[109] जबकि वास्तव में वह आचार्यवाद के प्रतीक कहे जा सकते हैं। दूसरी ओर वे विद्वान हैं जो राम-कृष्णकाव्य को हिंदू पुनरुत्थान से जोड़ते हैं जबकि

स्थिति यह है कि भक्तिकाव्य ने एक धार्मिक भाईचारा, मेल-जोल की दिशा में सक्रिय पहल की और भक्तिधारा के सार्थक रचनाकारों को सांप्रदायिकता से संबद्ध करना अनुचित होगा। हम कह आए हैं कि किस प्रकार अधिकांश ने जातिवाद का विरोध किया और जातीय सौमनस्य पर बल दिया। जिन रामानुज को रूढ़िवादी कहा जाता है, उन्हीं की परंपरा पर दृष्टि डालते हुए आबिद हुसैन स्वीकारते हैं कि रामानुज की शिष्यपरंपरा के रामानंद ने भक्ति को लोकप्रियता दी और सभी जातियों, यहां तक कि मुसलमानों के लिए भी भक्ति के मार्ग खोल दिए।[110]

राम-कृष्ण भक्त कवियों के समय तक भारतीय समाज की समन्वित रूपरेखा उभर रही थी, इसलिए सांस्कृतिक प्रश्नों की गहराई में जाने के अवसर थे। सूर, तुलसी ने क्रमश स्वयं को कृष्ण, राम के व्यक्तित्व से जोड़ा, पर इसे मध्यकालीन भारतीय जागरण के परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए, हिंदू पुनरुत्थानवाद से सीधे ही जोड़ देना ठीक नहीं। तुलसी में सांस्कृतिक समन्वय पूरी तरह इसलिए नहीं उभर पाता कि उनमें वर्णाश्रम व्यवस्था, ब्राह्मणपूजा, मर्यादा, अलौकिक देवत्व आदि के आग्रह दिखाई पड़ते हैं। लेकिन इसे मध्यकालीन सामाजिक ढांचे की सीमाओं के भीतर से समझना चाहिए जिसमें कबीर जैसे सामाजिक विद्रोह के कवियों तथा सूफियों की प्रेमचिंतना के बावजूद कोई बड़ा परिवर्तन नहीं आ पा रहा था, क्योंकि सामंती परिवेश जातीय व्यवस्था को बनाए रखने में रुचि रखता था। पर तुलसी कलिकाल के माध्यम से जो भयावह मध्यकालीन यथार्थ उजागर करते हैं, वह वर्ण, ब्राह्मणत्व के आग्रहों को छोड़कर सांस्कृतिक मेल-जोल के विरोध में जाता नहीं दिखाई देता और बिना जातीय सौमनस्य का नारा लगाए यह कार्य उन्हें संपादित करना था। इसलिए यद्यपि उन्होंने ब्राह्मणों को आदर देने की बात बार बार दुहराई और क्षत्रियकुमार की कथा भी ली, तथापि आग्रह नगरसंस्कृति पर न होकर सामान्यजन तथा कृषकसंस्कृति पर है। मध्यकालीन इतिहास से प्रमाणित होता है कि नगर, ग्राम में एक द्वैत की स्थिति थी, क्योंकि दोनों में संवाद के अवसर कम थे। सामंती ढांचे में दमनचक्र तो था पर इतिहासकारों के अनुसार सांप्रदायिक दंगों का उल्लेख प्रायः उस समय नहीं मिलता[111] और अकबर तक आते आते धार्मिक उदारता समाज में पर्याप्त प्रचार पा चुकी थी।

राम-कृष्णभक्ति काव्य में सांस्कृतिक मेल-जोल समाज के उस तबके के *माध्यम से उजागर हुआ है जिसे निम्नवर्ग कहा जाता है : आदिवासी*, कोल, किरात, किसान, भाट आदि। तुलसी, सूर के संदर्भ में किसान तथा चरागाही जीवन की चर्चा विस्तार से की जा चुकी है। जिन भूमिसुर ब्राह्मणों को प्रश्रय दिया गया है, वे स्थान स्थान पर आते हैं, पर कथाप्रवाह में जातिहीन निम्नवर्ग की

कम अहम भूमिका नहीं है। कलिकाल के माध्यम से यह संकेत भी किया गया है कि पृथ्वी के देवता कहे जानेवाले बुद्धिजीवी वर्ग ने अपना सामाजिक दायित्व भुला दिया है : 'द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन।'[112] सामान्यजन अपनी रोजी-रोटी में ही जूझने म लगा है, उसे अवकाश ही कहां ?

कुसगात ललात जो रोटिन को घरवात घरे खुरपा खरिया।
तिन सोने के मेरु से ढेर लहे मन तो न भरी घर पै भरिया।[113]

रमेशकुंतल मेघ ने तुलसी की रचनाओं के आधार पर कुछ बिरादरियों का उल्लेख किया है, जिन्हें निम्नवर्ग में गिना जाता है बाजा बजानेवाले, मंगल गानेवाले, सुआसिनियां, मागध, सूत, गवैये, चतुर नट, मंडप बनानेवाले शिल्पी, कावर ढोनवाले तथा मछलियां लानेवाले कहार, पट्टेबाज मसखरे, नाई, बारी, दर्जी, तेली, मकान बनानेवाले थपति, बढ़ई, इंद्रजाल करने वाले जादूगर आदि।[114] निम्नवर्ग म चांडाल, कोल, भील आदि भी आते हैं जो मानस में राम के साहचर्य से मुक्ति की कामना करते हैं। कलिकाल वर्णन म किसबी किसानकुल, भिखारी, भाट, चाकर, चपलनट, चोर, चार, चेटकी सब पेट के लिए पढ़ते हैं, तरह तरह की तरकीबें लगाते हैं, शिकार की तलाश में पहाड़-वनों म भटकना, ऊंच-नीच कर्म, धर्म-अधर्म यहां तक कि बेटा-बेटी बेचना। यह सब किसलिए 'आगि बड़वागि तें बड़ी है आगि पेट की।'[115] जिस समाज की चर्चा करते हुए सूर के संदर्भ में हमने कृषि चरागाही संस्कृति कहा है, उसम भी साधारणजन उपस्थित हैं मध्यकालीन भारत के बहुमत का प्रतिनिधित्व करते हुए। स्थिति यह है कि सवर्णों की जातिभेदी नीति के शिकार हिंदू-मुसलमान, वर्ग के स्तर पर एक दुखी जीवन बिताने के लिए विवश थे पर उनम सामाजिक मेल-जोल अपने सहज रूप म देखा जा सकता है। रामराज्य की कल्पना म कहा गया है कि वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हुए भी 'बयरु न कर काहू सन कोई' या 'सब नर करहिं परस्पर प्रीती।'[116]

सांस्कृतिक समन्वय और मुसलमान कवि

राम-कृष्णभक्ति काव्य के संदर्भ में सांस्कृतिक मेल जोल के उदाहरण रूप में खुसरो, रहीम, रसखान जैसे कवियों को प्रस्तुत किया जाता है, जिनकी चर्चा की जा चुकी है। अमीर खुसरो तेरहवीं चौदहवीं शती के सल्तनतकाल में खड़ी बोली के आरंभिक कवियों में स्वीकार किए जाते हैं और उन्होंने संगीत, मसनवी, इतिहास, गजल, कव्वाली, पहेली आदि दिशाओं में अपनी रचनाशीलता को प्रक्षेपित किया। जमीला अली जाफरी उन्हें सांस्कृतिक समन्वय का प्रतीक मानते हुए लिखते हैं 'उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के द्वारा जो कुछ भी हुआ वह अत्यंत रचनात्मक, शक्तिवर्धक और आनंददायक था। वास्तव में वह हिंदू मुस्लिम एकता के सेतुबंध

थे।'[117] रसखान, रहीम को लंबी आयु मिली थी और उन्होंने इतिहास के कई उतार-चढ़ाव देखे थे। रसखान के विषय में तो यहां तक कहा जाता है कि उन्होंने गो० विट्ठलनाथ से वल्लभसंप्रदाय के अंतर्गत दीक्षा ली थी। उनके काव्य में अन्य वल्लभानुयायी कृष्णभक्त कवियों जैसी प्रेममाधुरी एवं भक्तिशैली से इस बात की पुष्टि होती है।[118] रसखान की प्रेमाभक्ति से प्रमाणित होता है कि कृष्ण-काव्य जाति, संप्रदाय की चहारदीवारी तोड़ चुका था। रसखान शेष, गणेश, महेश, दिनेश, सुरेश की वंदना मंगलाचरण रूप में करते हैं, कृष्ण की भक्ति में लीन होते हैं और कहते हैं मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल गांव के ग्वारन। कृष्ण के लीलाचित्र बनाते हुए वह पूरी रागात्मकता में होते हैं। गोपियों की स्थिति है :

जा दिन तें वह नंद को छोहरा, या बन धेनु चराइ गयो है।
मोहिनी ताननि गोधन गावत बेनु बजाइ रिझाइ गयो है।
वा दिन सों कछु टोना सो कै रसखान हियें मैं समाइ गयो है।
कोउन काहू कानि करै सिगरो ब्रज बीर ! बिकाइ गयो है॥
खंजन नैन फंदे पिंजरा, छवि नाहीं रहैं थिर कैसे हू माई।
छूटि गई कुलकानि सखी रसखानि लखी मुसकानि सुहाई।
चित्र कढ़े से रहे मेरे नैंन न बैन कढ़े मुख दीनी दुहाई।
कैसी करौं जिन जाहु अली सब बोलि उठें यह बावरी आई॥[119]

कृष्णलीला के घनिष्ठ चित्र रसखान में प्राप्त होते हैं माखनचोरी, रासलीला, वंशीवादन, मथुरागमन, गोपी प्रसंग, राधा, फाग आदि। शाहजदा अहमद ने रसखान में सूफीमत और कृष्णभक्ति की सम्मिलित भूमि देखी है। उनका कथन है 'रसखान की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता या मौलिकता सूफीमत और कृष्ण-भक्ति को एकरूपता प्रदान करने में है। भक्तिकाव्य की दृष्टि से देखिए तो रसखान का काव्य कृष्ण का लीलागान मात्र प्रतीत होता है और रसखान कृष्ण के अनन्य उपासक प्रतीत होते हैं। सूफीमत की दृष्टि से देखने पर रसखान का काव्य तसव्वुफ के सिद्धांतों से सुसज्जित दिखाई देता है।[120] मेरा विचार है कि रसखान जैसे कवि राम-कृष्णभक्ति काव्य की मिली जुली सामाजिक सांस्कृतिक चेतना के जीवंत हस्ताक्षर हैं।

उदार भक्ति का स्वर

मध्यकाल के दूसरे दौर में सांस्कृतिक समन्वय की जो जमीन तैयार हो उसमें रसखान, रहीम जैसे कवियों की सक्रियता एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। जातिप्रथा को तोड़ते हुए एक ऐसे ईश्वर की तलाश की जा रही थी जिसे सब स्वीकार कर सकें। मनुष्य मनुष्य के बीच खड़ी धर्म की दीवार तोड़ने के लिए कबीर मत, महात्मा

प्रयत्नशील थे और वे मानते थे कि व्यर्थ के आडंबरी कर्मकांड में ईश्वर को नहीं पाया जा सकता। प्रकारांतर से आचरण की शुद्धता का आग्रह [illegible] पौरोहित्य और मठाधीशत्व के प्रति विद्रोह भी है जिसके पास सामंती जमाने में धर्म की ठेकेदारी थी। इतिहासकारों ने स्वीकारा है कि अकबर जैसे उदार शासक को भी दरबार के कट्टरपंथी वर्ग से कितना संघर्ष करना पड़ा, तब कहीं वह दीनइलाही की कल्पना कर सका। जिनके निहित स्वार्थों को बादशाह की उदारनीति से धक्का लगा था वे सब उनके विरोध में थे। काजी नाराज थे क्योंकि भूमिवितरण करोड़िया के हाथ में आ गया था। काजियों के अधिकार कम कर दिए गए थे और इमाम भी अप्रसन्न थे। सुलहकुल या दीनइलाही के विषय में अनपढ़ जनता को यह कहकर गुमराह किया गया कि इस्लाम ने काफिरों के आगे घुटने टेक दिए हैं।[121] लेकिन इतिहास और सामाजिक दबावों में सांस्कृतिक मिलन मध्यकालीन परिवेश की एक अनिवार्यता है और भक्तिकाव्य का सर्वोत्तम इसी दौर में रचा गया। रहीम (1556-1668 ई०) जिन्होंने अकबर, [illegible], शाहजहाँ के समय में कई उतार चढ़ाव देखे थे, बहुभाषाविद थे और [illegible], उर्दू में लिखकर अपना काम सरलता से चला सकते थे पर [illegible] कवित्त सवैया, छप्पय दोहा आदि रचे तथा नीति प्रेम [illegible]। [illegible] राम, कृष्ण दोनों का उल्लेख किया जैसे रहिमन [illegible] कृष्ण के लिए और एक दोहा राम को

तै रहीम मन आपुनो कीन्हो चारु चकोर।
निसि वासर लागो रहै कृष्णचंद्र की ओर॥
अब रहीम मुश्किल पड़ी गाढ़े दोऊ काम।
साँचे से तो जग नहीं झूठे मिलै न राम॥[122]

सांस्कृतिक मेल जोल के अनेक उदाहरण प्रस्तुत [illegible] (1483 1533 ई०) के तीन गोस्वामी शिष्य [illegible] थे जिन्होंने ब्रज और बंगाल की भक्ति को [illegible] कबीर तथा उनके शिष्य दादू रैदास आदि का [illegible]। सांस्कृतिक समन्वय के दौर में राम कृष्ण की [illegible] हुए भी संकुचित दृष्टि की अधिक गुंजाइश [illegible] ई०) को महान समन्वयवादी, सामाजिक [illegible] या तक कहा जाता है और उनके मुसलमान [illegible] शाम उनका कहना था ना कोई हिंदू ना [illegible] की के विरोध में नारा लगाया और [illegible] पर उनकी गणना सर्वोपरि मध्यकालीन [illegible] कारो सही है कि नानक का उद्देश्य हिंदू-मुस[illegible]

से समाज में जो घाव हो गए थे, उन्हें पूरा जा सके।

स्वीकारना होगा कि राम-कृष्णभक्त कवियों में सूर, तुलसी का स्वर जुझारू नहीं है, इसलिए उनके सांस्कृतिक समन्वय की पहचान भी कठिन। सूर को माधुर्य से जोड़कर कई बार एकांगी जीवन का रचयिता कह दिया जाता है और तुलसी के मर्यादावाद पर टिप्पणी की जाती है। इसे हम तत्कालीन इतिहास, समाज के संदर्भ में देखना चाहेंगे। मुगलकाल में इतिहास ऐसे दौर में पहुंच चुका था, जहां उसे एक बेहतर सांस्कृतिक परिवेश की आवश्यकता का अनुभव हो रहा था, क्योंकि चिरंतन तनाव में नहीं जिया जा सकता। इतिहासकारों का कहना है कि 'मुगलकाल एक सभ्य, सुसंस्कृत जीवन की खोज कर रहा था और इस बौद्धिक सक्रियता ने कला, संगीत, साहित्य आदि में अपनी अभिव्यक्ति की। तुर्की के श्रेष्ठ कवि बाबर ने अपनी प्रभावी आत्मकथा लिखी, हुमायूं ज्योतिष-नक्षत्रों की दुनिया में खोया था, अकबर धर्म-दर्शन की गहराइयों में उतरा, जहांगीर चित्रकला की सूक्ष्मताओं का पारखी था आदि।'[3] ऐसे सांस्कृतिक परिवेश को उजागर करने में राम, कृष्ण से संबद्ध भक्तिकाव्य पीछे नहीं रहा, यद्यपि यहीं यह समझ लेना चाहिए कि ये कवि भी अपनी रचनाओं के माध्यम से एक नया सांस्कृतिक परिवेश जगा रहे थे और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए राम, कृष्ण का उपयोग चरित-नायक के रूप में किया गया। इन कवियों की दृष्टि अपनी पूर्ववर्ती संतकाव्य परंपरा की तुलना में अधिक रचनात्मक है।

नई सामाजिक चेतना का प्रकाशन

मध्यकाल में जो सांस्कृतिक समन्वय सक्रिय था, उसमें दो वर्ग विशेष भूमिका अदा कर रहे थे। राजाश्रय में सामंती वातावरण इस मेल-जोल का प्रमाण था और अपनी वर्गचेतना में सामंत लेन देन की प्रक्रिया से गुजर रहे थे। मुगल दरबार पर क्रमशः फारसी तौर-तरीकों का प्रभाव बढ़ रहा था।[4] शहंशाह द्वारा नियुक्त सूबेदार सर्वोपरि सामंतों में आते थे और उनके संरक्षण में प्रादेशिक भाषा तथा संस्कृति को प्रश्रय मिल रहा था। सामंती अंतर्विरोधों के कारण कई बार केंद्र को चुनौतियों का सामना करना पड़ता था, पर जहां तक देसी भाषाओं का प्रश्न है प्रांतीय इकाइयों में उन्हें अपना व्यक्तित्व विकसित करने का अवसर मिला। सामान्यजन की, इस रचनाशीलता में इसीलिए अधिक रुचि थी क्योंकि जिस मुहावरे में बात की जा रही थी, उसे वे भी समझ सकते थे।

मध्यकालीन सामंती अभिजात संस्कृति का एकछत्र आधिपत्य इसीलिए स्थापित नहीं हो सका क्योंकि सामान्यजन की चेतना का प्रकाशन करनेवाली देसी भाषाएं उसे अपने ढंग से चुनौती दे रही थीं। जिसे सधुक्कड़ी भाषा कह दिया जाता है, वह वास्तव में सामान्यजन के भावजगत को उन तक पहुंचाने का

उपक्रम है और इस माध्यम से वह मध्यकालीन सामाजिक चेतना उजागर हुई जो बड़े समुदाय का प्रतिनिधित्व करती है। इसके पूर्व कि हम सीधे उस मुहावरे की चर्चा करें, यह समझ लेना होगा कि भाषा जिस सामाजिकता से बनती-बिगड़ती है, उसका रूप उत्तरमध्यकाल में काफी मिला-जुला था। डा० हरदेव बाहरी ने इतिहास के हवाले से बताया है कि उस समय ऐसे मकतब और मदरसे भी थे जिनमें हिंदू मुसलमान साथ साथ शिक्षा पाते थे।[125] सांस्कृतिक समन्वय में संतों, सूफियों की महत्वपूर्ण भूमिका की विस्तृत चर्चा की जा चुकी है और उन्होंने जो सांस्कृतिक परिवेश जन्मा दिया था, उसने राम-कृष्ण भक्तिकाव्य को भी प्रभावित किया। जुलाहा कबीर, धुनिया दादू, चमार रैदास, नाई सेन, डोम नाभादास, कसाई सदन मध्यकाल की विद्रोही चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं और मेरा विचार है कि इनके माध्यम से समाज का निम्नवर्ग अपने आक्रोश को भी अभिव्यक्ति देना चाहता है। दर्जी जाति में जन्मे नामदेव (1270-1350 ई०) ने मराठी हिंदी रचनाओं के द्वारा सामान्यजन को संबोधित किया और समीक्षकों ने उनकी सामाजिक चेतना को रेखांकित किया है। नामदेव बाह्याडंबरी कर्मकांड का विरोध करते हैं, साथ ही वह एक ऐसे समान देव की तलाश भी करते हैं जहां सबको प्रश्रय मिल सके। वे राम कृष्ण दोनों का यशोगान करते हैं और भक्ति के मंच पर सामान्यजन को एकजुट करना चाहते हैं। जातिवाद पर उनका व्यंग्य है

हीन दीन जाता मोरी पढरी के राया।
ऐसा तुमने नामा दरजी कायक बनाया।
टाल बिना लेकर नामा राउल मे गाया॥
पूजा करते ब्रह्मन उनँन बाहेर ठकाया॥
देवल के पिछे नामा अल्लक पुकारे।
जिदर जिदरनामा उदर देऊलहि फिरे॥
नाना वर्ण गवा उनका एक वर्ण दूध।
तुम कहा के ब्रह्मन हम कहा के सूद॥
मन मेरी सुई तनो मेरा धागा।
खेचरजी के चरण पर नामा सिपी लागा॥[126]

बहुदेववाद के स्थान पर एकेश्वरवाद का आग्रह नई मध्यकालीन सामाजिक चेतना की उपज है, जिसमें सूफियों ने सर्वाधिक सक्रियता दिखाई। पर विद्वानों द्वारा यह टिप्पणी स्थिति का सरलीकरण है कि यदि इस्लाम भारत में न आया होता तो भक्तिकाव्य की उत्पत्ति ही न हो पाती। हम स्वीकारते हैं कि इस्लाम में एक ही खुदा का आग्रह, मूर्तिपूजा की अस्वीकृति और एक ही बिरादरी की बात मध्यकालीन परिवेश को देखते हुए काफी उदार दृष्टि के परिचायक हैं, पर यहां तक आते आते इस्लाम में अनेक तत्व सम्मिलित हो गए थे। इतिहासकारों

ने 'कुरानशरीफ' का विश्लेषण करते हुए उसके मानवीय पक्ष पर प्रकाश डाला है, और यह भी स्वीकारा है कि मुगल राज्य मे तुर्की, अरबी, ईरानी प्रभावों का इस्लाम मे भारतीयकरण हो गया।[127] मेरा विचार है कि सास्कृतिक समन्वय, नई सामाजिक चेतना की सही पहचान और भक्तिकाव्य मे उसकी अभिव्यक्ति के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि महत्वाकाक्षी शासक स्वय इस्लाम के व्याख्याता तक बनना चाहते थे ताकि वे उलमा के नियत्रण से मुक्त हो सकें। उनमे से कुछ को इस बात का एहसास भी था कि प्रजा का सपूर्ण समर्थन पाने के लिए उदारता आवश्यक है।

सामाजिक चेतना का स्वरूप राम-कृष्णभक्ति काव्य मे एक दूसरा रूप ग्रहण करता है और निश्चित ही उसके विद्रोही तेवर पूर्ववर्ती संतकाव्य की तुलना मे काफी मद्धिम हैं, पर उन्हे किसी रूढिवाद से जोडना भूल होगी। वास्तव मे मुगल-काल, विशेषतया अकबर तक आते आते सामाजिक ढाचा जिस सामती परिवेश मे एक व्यवस्था पा चुका था, उसमे राम-कृष्ण मे सबद्ध भक्तिरचनाए रूपायित हुई हैं। इसीलिए उनमे भी कही न कही किसी व्यवस्था, मर्यादा, शालीनता आदि का आग्रह है विशेषतया राम को लेकर या फिर कृष्णकाव्य की अधिक खुली भूमि है रगीन, रूमानी। यहा यह भी विचारणीय है कि मध्यकाल मे दो सस्कृतिया लगभग समानातर यात्रा करते हुए देखी जा सकती हैं जिन्हे नागर तथा सामान्य-जन की लोक सस्कृति कहा जा सकता है। उत्तरमध्यकाल मे एक द्वैत सा मौजूद है, एक ओर वैभवडूबा सामती समाज और दूसरी ओर ग्रामजन का बहुल समाज तथा इनके बीच मे रचना को सभालता एक मध्यवर्ग भी। इतिहासकारो का कथन है कि मुगलकाल मे ग्रामसमाज का ढाचा लगभग वैसा ही बना रहा—स्वयसपूर्ण, और शासको ने उसमे अधिक हस्तक्षेप नही किया।[128]

राम-कृष्णभक्ति काव्य की नई सामाजिक चेतना रूढियो का अध समर्थन नही करती, पर उसके विद्रोह का स्वर साकारी देवत्व को चरितनायक स्वीकारने के कारण जुझारू नही हो पाता। यह काव्य अपने समय-समाज से असतुष्ट है और उसके कुछ सकेत वह देना चाहता है, जैसा तुलसी मे सामयिक सदर्भों की तलाश के सिलसिले मे हम देख सकते हैं कि किस प्रकार उनकी रचनाएं अपने आदर्शवादी तेवरो के बावजूद, यथार्थजगत से जूझती हैं। मध्यकाल के विश्रृखल समाज के दृश्य उनमे सामती अतर्विरोधो की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हैं :

निपट बसेरे अघ-औगुन घनेरे नर,
नारिऊ अमेरे जगदब चेरी-चेरे हैं।
दारिद दुखारी देबि भूसुर भिखारी-भीरु,
लोभ-मोह-काम-कोह कलिमल घेरे है।[129]

वैकल्पिक व्यवस्था की खोज

राम कृष्णभक्त कवि एक व्यवस्था की खोज करते दिखाई देते हैं। विगलित यथार्थ का चित्रण उनमें संकेत से है, पर सामाजिक चेतना के रूप में वे विकल्प की तलाश करते हैं, यूटोपियाई रामराज्य अथवा कृष्णचरित। इस व्यवस्था में वे संपूर्ण रूप से नए समाज की कल्पना नहीं करते, काफी चीजें पुरानी भी बनी रहनी चाहिए—वर्ण का पालन, ब्राह्मण का सम्मान, वेद-मर्यादा आदि। व्यवस्था की यह तलाश ही भक्तिकाव्य की सामाजिक चेतना के विद्रोह को प्रखर और जुझारू नहीं होने देती और कई बार उन्हें मूल से परंपरा से जोड़कर संतोष कर लिया जाता है। लेकिन यदि कवि अपने समय से संपूर्ण समझौता करने की मुद्रा में होते तो रचना में यथार्थ के दृश्य अनुपस्थित होते और विकल्प की तलाश का तो प्रश्न ही नहीं उठता। विष्णुदास ने रामराज्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि राघव निष्कंटक राज्य करते हैं और 'लोग सुखी दीसं धन धान। करं राज मो इन्द्र समान।'[130]

व्यवस्था की इस तलाश पर दृष्टि डालने से सामाजिक सांस्कृतिक चेतना का वृत्त पूरा होता है क्योंकि हम जानते हैं कि आखिर किस समाज की कल्पना इन कवियों ने की है। भक्ति में मर्यादा को स्वीकारना मध्यकालीन सामाजिक चेतना की सीमा है, जिसमें संपूर्ण विद्रोह के लिए अवसर न था, क्योंकि सामंती ढांचा अपनी कुछ उदारताओं के बावजूद कठोर था। एक असंगठित समाज में जितना कुछ संभव है, उसकी एक कल्पना इन कवियों ने अपने चरितनायक के माध्यम से की है। राम, कृष्ण किसके आराध्य हैं, प्रायः सामान्यजन के, यद्यपि वे सभी के पूज्य हैं। इसीलिए राम की प्रमुख लीलाएं वनखंडी में रचाई जाती हैं और कृष्ण की गोकुल में। जब आक्षेप किया जाता है कि कृष्ण का महाभारतवाला सुदर्शनचक्रधारी रूप अधिक प्रक्षेपित नहीं हो सका, तो उसका एक कारण यह भी है कि मध्यकाल के सामंती परिवेश में रचना राजनीतिक व्यवस्था के प्रति विद्रोह नहीं कर सकती थी इसीलिए उसने प्रकारांतर से उसे नया मोड़ दिया, विकल्प तलाशा। ग्वाल-बालों के बीच किसानी चरागाही संस्कृति में लिप्त कृष्ण और वनवासियों-वानरों आदि की सहायता से जीवनसंघर्ष झेलते राम एक वैकल्पिक व्यवस्था के प्रतीक बनते हैं। उनके व्यक्तित्व के बनने में सामंती नागर संस्कृति भी सक्रिय है, उनका राजत्व, दरबार, अलंकरण आदि, पर वह आराध्य हैं सामान्यजन के। सूर का एक छोटा पद है जिसमें राम को संबोधित किया गया है:

हमारे निर्धन के धन राम।
चोर न लेत घटत नहिं कबहू आवत गाढ़ै काम॥
जल नहिं बूड़त, अगिनि न दाहत है ऐसौ हरि-नाम।
वैकुंठनाथ सकल सुखदाता, सूरदास सुख-धाम॥[131]

प्रश्न है कि यह व्यवस्था क्या संपूर्ण विकल्प है ? संभवत नहीं, क्योंकि समाज, राजनीति, लोकजीवन, धर्म, दर्शन आदि का उल्लेख करते हुए भी अपनी बनावट मे वह आदर्शवादी है, पूर्ण यथार्थपरक नही। उसकी दृष्टि अध्यात्म पर ज्यादा टिकती है और उसके केंद्र मे वह पुरुषोत्तम अथवा अवतारी आराध्य है जिसे कतिपय मूल्यो से संबद्ध किया गया है। इसीलिए रासलीला, गोपीप्रसग, मान-मनुहार, उपालभ आदि रसिक प्रसगो को आध्यात्मिक अर्थ देने की आवश्यकता होती है। अब यह रचनाकार की सर्जन सामर्थ्य पर निर्भर है कि वह बिना वाह्यारोपण किए, प्रसग का किस प्रकार उन्नयन कर पाता है। यहा कृष्णकाव्य रामकाव्य से अधिक रूमानी भूमि पर स्थित है यद्यपि उसके जीवनदृश्य की अपनी निश्चित सीमाएं हैं। कृष्णकवि कृष्ण गोपी अथवा कृष्ण-राधा के घनिष्ठतम मिलनचित्र बनाते हैं, काफी अकुंठित। राधा के मान के कई पद, जहां लगभग नायक-नायिका की भूमि पर कृष्ण-राधा को प्रस्तुत किया गया है जिसमे मध्यकालीन दूती भी अपना फर्ज निबाहती है। विद्वानो का कथन है कि कृष्णकाव्य भक्तिरस का शास्त्र तक बन जाता है। रास वैयक्तिक प्रसग नहीं, वह सामाजिक, आध्यात्मिक भूमि पर है और यही प्रक्षेपित कर कृष्णकवि उसे एक व्यवस्था देना चाहते हैं। जब कृष्ण रास रचाते हैं तब सब उसके सुख मे डूब जाते हैं

रच्यो रास रग स्याम सबहिनि सुख दीन्हो।
मुरली-सुर करि प्रकास, खग-मृग मुनि रस-उदास,
जुवतिनि तजि गेह बास, बनहिं गवन कीन्हो ॥
मोहे सुर असुर-नाग, मुनिजन-मन गए जाग,
सिव सारद नारदादि चकित भए ज्ञानी।
अमरनि सह अमर-नारि आईं लोकन बिसारि,
ओक ओक त्यागि, कहति धन्य-धन्य बानी ॥
थकित गति भयो समीर, चन्द्रमा भयो अधीर,
तारागन लज्जित भए मारग नहिं पावैं ॥
उलटि बहत जमुन धार, बिपरित सबही बिचार,
सूरज-प्रभु सग-नारि कौतुक उपजावैं ॥[132]

कृष्णकाव्य को किसी सप्रदाय विशेष से जोड़कर उस पर अतिरिक्त आध्यात्मिकता आरोपित करने की कोई अनिवार्यता नही है, क्योंकि उससे सर्जनशीलता को सही परिप्रेक्ष्य मे समझने मे कठिनाई होती है। मध्यकाल की जो बनावट है, उसमे लौकिक शृगार का आना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है और कृष्णकाव्य मे वह सहज ढग से आया है, पर सारी रसिकता-रगीनी-माधुर्य के बीच, भक्ति से संबद्ध होने के कारण समर्थ कवि सजग हैं कि आराध्य का देवत्व सुरक्षित रहे, इसीलिए आध्यात्मिक आग्रह। इस उद्देश्य मे पौराणिक आख्यान उनकी सहायता करते हैं,

जिसके माध्यम से कृष्ण के अवतारी रूप को बार बार उभारने की चेष्टा की जाती है। एक अवतारी कल्पना, आध्यात्मिक व्यवस्था के अंतर्गत ही यह क्रिया जाता है, पर कठिनाई तब उपस्थित होती है जब पूजन-अर्चन के एक सपूर्ण कर्मकाड से कृष्णकाव्य को सबद्ध करके देखा जाता है। आगे चलकर जब केंद्रीय सत्ता पर आधारित सामतवाद छोटे छोटे टुकडो मे बंट गया तब कृष्ण के चरित्र को जिस शरीरी भूमि पर उतार दिया गया, वह व्यवस्था के टूटने का सकेत है, लगभग एक मनमानी अराजक स्थिति।

वैकल्पिक व्यवस्था की खोज में रामभक्तिकाव्य अधिक सजग है, यद्यपि यहा यह टिप्पणी भी की जा सकती है कि जीवनवैविध्य तो उसमे है, पर जहा तक उन्मुक्तता का प्रश्न है कृष्णकाव्य अधिक निर्बंध है। राम के चरित्र मे लीला की सभावनाए भी काफी एकागी प्रकार की रही है और जिन दो चार प्रसगो का भरपूर उपयोग किया जा सकता था, उन्हे प्राय वरा दिया गया। यहा तक कि जब सामाजिक दबावो तथा कृष्णकाव्य के प्रभाव मे रामभक्ति मे रसिकता के तत्व अधिक प्रवेश करने लगे, तब भी कृष्ण की तुलना मे राम अधिक सयमित से दिखाई पडते हैं। वर्णनप्रसगो मे तो रसिकता झलकी है पर कवि प्राय' सचेष्ट रहे हैं कि राम के व्यक्तित्व को उससे अलगाया जाए ताकि उनका देवत्व सुरक्षित रहे। अग्रदास 'ध्यानमजरी' म राम का विस्तृत रूपवर्णन लगभग कृष्ण की तरह करते है पर देवत्व के साथ—स्वर्णवेदी पर रत्नसिंहासन और वहा पद्मसुभासन, जिम पर नील इदीवर की शोभा लिए राम

कुडन ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा।
तिनको निरखि प्रकास लजित राकेस दिनेसा॥
मेचक कुटिल सुचारु सरोरुह नयन सुहाये।
मुख पकज के निकट मनहु अलि छौना आये॥
भृकुटी क्षय पद दुगुन मनहु अलि अवलि विराजै।
नासा परम सुदेस वदन लखि पकज लाजै॥
दीरघ दीप्त ललाट ज्ञान मुद्रादृढ धारी।
सुदर तिलक उदार अधिक छवि सोभित भारी॥[133]

तुलसी ने एक वैकल्पिक व्यवस्था की तलाश मे सर्वाधिक श्रम किया और हम कह आए हैं कि चरितनायक उसके केंद्र हैं, आध्यात्मिक सम्राट। कई बार स्मार्त वैष्णव आदि दार्शनिक अनुबधो से जोडकर अतिरिक्त आरोपण किए जाते हैं, पर तुलसी जैसे सजग कवि अपनी रचना को एक स्वतत्र वैचारिक आधार देते हैं, इसीलिए साकार निराकार, शिव-विष्णु, ज्ञान-भक्ति यहा विलयित हैं। तुलसी मध्यकालीन समाज पर अपना आक्रोश व्यक्त करते हैं और परपरा के टूटने का उन्हे दुख है. वर्णव्यवस्था टूट रही है, आश्रम विला गए हैं, नर-नारी श्रुतियो का

विरोध करते हैं।[134] वर्णव्यवस्था को बनाए रखने में उनकी रुचि है और वह कहते हैं 'सूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ग्याना। मेलि जनेउ लेहिं कुदाना।'[135] अथवा

जे बरनाधम तेलि कुम्हारा। स्वपच किरात कोल कलवारा॥
नारि मुई गृह संपत्ति नासी। मूड मुडाइ होहिं सन्यासी॥
ते बिप्रन्ह सन आप पुजावहिं। उभय लोक निज हाथ नसावहिं॥
बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी॥
सूद्र करहिं जप तप ब्रत नाना। बैठि बरासन कहहिं पुराना॥
सब नर कल्पित करहिं अचारा। जाइ न बरनि अनीति अपारा॥[136]

जाहिर है कि तुलसी एक व्यवस्था चाहते हैं जिसमें परंपरा के कुछ तत्व सुरक्षित रहें जैसे ब्राह्मण का आदर या वर्णव्यवस्था, पर वह यहीं यह भी संकेत करते हैं कि बुद्धिजीवी ब्राह्मणवर्ग अपने नैतिक दायित्व में चूक गया है 'बिप्र निरच्छर लोलुप कामी। निराचार सठ बृषली स्वामी।'

भोगवाद का विरोध और आध्यात्मिक आधारभूमि

राम को केंद्र में रखकर रची गई वैकल्पिक व्यवस्था मध्यकाल के लिए एक नई सामाजिक चेतना की खोज है जिसका खाका तुलसी प्रस्तुत करना चाहते हैं—समूचे रूप में रामराज्य के माध्यम से और टुकड़ों में कई बार उस आदर्श अध्यात्मलोक की ओर इशारा करते हुए। निश्चय ही इस विकल्प का आधार अध्यात्म है पर उसका स्वरूप क्या है? इस आध्यात्मिकता में सर्वप्रथम संप्रदाय, पंथ, मत-मतांतर का विरोध है

कलिमल ग्रसे धर्म सब, लुप्त भए सद्ग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि कर प्रगट किए बहु पंथ॥[137]

जिसे तुलसी का समन्वयवाद कहा जाता है, वह इधर-उधर की जोड़-गाँठ पर ठहरा कोई कामचलाऊ समझौतावाद नहीं है, जिसमें पचमेल कारोबार दिखाई देता है, वह अधिक शक्तिशाली रचनादृष्टि पर आधारित है और तुलसी की भक्तिचेतना इस दृष्टि से जीवनदर्शन का स्थानापन्न बनना चाहती है—मध्यकालीन भोगवाद को चुनौती देते हुए। समीक्षकों ने तुलसी की समन्वित दृष्टि को रेखांकित किया है। यह बात अलग है कि यथार्थ से भरे जीवन के आदर्शवादी समाधान नहीं हो सकते। राम तो अयोध्या के सुखवैभव को तिलांजलि दे ही देते हैं 'राजिवलोचन राम चले, तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं'[138] पर दास्य-भक्ति के सर्वोपरि प्रतीक भरत भी उस राज्य को नहीं भोगते

नंदिगाँव करि परन कुटीरा। कीन्ह निवासु धरम धुरधीरा॥
जटाजूट सिर मुनिपट धारी। महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा॥

भूसन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी ॥
अवध राजु सुर राजु सिहाई। दसरथ धनु सुनि धनदु लजाई ॥
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा। चचरीक जिमि चंपक बागा ॥
रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि तन बड़भागी ॥[139]

भोगवाद का विरोध और उसके स्थान पर आध्यात्मिक मूल्यों की खोज नई व्यवस्था के अंतर्गत है और रावण तथा राक्षस भोगवाद के प्रतीक है। यहा वैराग्य, सन्यास का आग्रह नही किया गया, बल्कि व्यग्य है कि 'मूड-मुड़ाइ भए सन्यासी'। रामकथा के सभी गृहस्थ पात्र अपनी दैनंदिन जीवनचर्या का पालन करते हुए भक्तिमार्ग मे सक्रिय हैं। केवट सपरिवार आराध्य के चरणो मे अर्पित है

प्रभुरुख पाइ कै बोलाइ बाल घरनिहिं,
बंदि कै चरन चहू दिसि बैठे घेरि घेरि।
छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गगाजू को,
धोइ पाय पीयत पुनीत बारि फेरि फेरि।[140]

राम कृष्णभक्ति काव्य भोगवाद और विलासी संस्कृति को ललकारता हुआ जिस नई व्यवस्था का आग्रह करता है, उसका आधार भक्ति है। इसीलिए कृष्ण के घनिष्ठतम रसिक प्रसगो मे भी आध्यात्मिक सकेत देने मे सजगता। कवि सावधान हैं कि यदि वे किसी आश्रमवासिनी आध्यात्मिकता का प्रचार-प्रसार करेंगे तो जीवनप्रवाह से अलग-थलग पड जाएगे और जनसमाज द्वारा अस्वीकृत। सूर कहते हैं 'सब विधि अगम बिचारहिं तातें सूर सगुन लीलापद गावै।' यह साकारता केवल दार्शनिक उपक्रम नही है, उसे राम, कृष्ण के माध्यम से प्रमाणित किया गया है। भले कृष्ण मे महाभारतीय चरित्र का उपयोग अधिक न हो पाया हो, पर वह इद्र को ललकारते है और गोवर्धनपूजन के प्रसग म उनका व्यक्तित्व एक नई दीप्ति पा जाता है। वह कहते है—इद्र का पूजन मत करो 'छाडि देहु सुरपति की पूजा। कान्ह कह्यौ गिरि गोवर्धन तै और देव नहिं दूजा'[141] सूर यहा सकेत करते हैं कि कृष्ण केवल परपरित देवत्व पूजन को ललकारते ही नही, उनमे इतना सामर्थ्य भी है कि वह सामान्यजन की रक्षा भी कर सकें

स्याम लियौ गिरिराज उठाइ।
धीरधरौ हरि कहत सबनि सौं गिरि गोवर्धन करत सहाइ ॥[142]

प्राय राम कृष्णभक्ति काव्य की चर्चा करते हुए कुछ उदाहरणो को प्रमाण रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है पर सामाजिक, सास्कृतिक, आध्यात्मिक चेतना की पहचान का यह सही तरीका नही है, क्योकि केवल वक्तव्य रचना की प्रामाणिकता के लिए नाकाफी होते हैं। कवियो ने मुख्यतया चरित्रो के माध्यम से इसे प्रक्षेपित किया है और इसीलिए उन्हें प्रतीकत्व मिल गया है। गोपियां आध्या-

त्मिक प्रेम मे डूबी हैं, लौकिक सबधो का निषेध करती हैं, राधा सर्वोपरि गोपी है, मीरा निर्भय है - 'लोक लाज कुलरा मरज्यादा जगमा णकणा राख्यारी'। इस दृष्टि से पात्रो के माध्यम से प्रमाणित आध्यात्मिकता अधिक महत्वपूर्ण है। राम अथवा कृष्ण केवल कहते नही, अपने कर्मों से उसे चरितार्थ करते हैं, कृष्ण रास-लीला के दौरान सहसा अतर्धान हो जाते हैं, गोपियो का अहकार आदि तोड़ने के लिए।

मध्यकालीन भोगवाद के विरोध म राम कृष्णभक्ति काव्य जिस आध्यात्मिकता को प्रतिपादित करना चाहता है, उसमे ये दोनो प्रमुख अवतार लगभग त्रिदेव का समन्वयन करते हैं, वे साकार भी हैं, निराकार भी, विष्णु शिव-ब्रह्मा के समुच्चय। 'मानस' म सती राम के विराट रूप का दर्शन करती हैं 'देखे जह तह रघुपति जेते। सक्तिन्ह सहित सकल सुर तेते'[143] और कौशल्या दो दो बालक देखती हैं

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मड ॥[144]

शिव रामभक्त हैं और राम शकर को सराहते हैं। आध्यात्मिक आधार को एकान्वित करने के लिए बहुदेववाद का किसी एक देवता मे मिलन मध्यकाल मे आवश्यक था। शिव राम की वदना करते हैं उनका प्रसिद्ध स्तुति-स्तोत्र है 'जय राम रमा रमन समन। भाव ताप भयाकुल पाहि जन।'[145] कृष्ण की एक लीला के माध्यम से सूर उनके देवत्व का बोध कराते हैं

कर पग गहि, अगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालनैं अकेले हरषि हरषि अपनैं रग खेलत ॥
सिव सोचत, बिधि बुद्धि विचारत बट बाढ्यौ सागर-जल झेलत ॥
बिडरि चले घन प्रलय जानि कै दिगपति दिग-दतीनि सकेलत ॥
मुनि मनभीत भए, भुव कपित, सेष सकुचि सहसौ फन पेलत।
उन ब्रजबासिनि बात न जानी, समुझे सूर सकट पग ठेलत ॥[146]

राम-कृष्णभक्ति काव्य की आध्यात्मिक चेतना मध्यकाल को जो वैकल्पिक चितन दर्शन देना चाहती है, वह आदर्शपरक होकर भी वायवी और काल्पनिक नही हो सकता क्योकि कवियो ने उसे जीवन के भीतर से पाना चाहा है, उसका व्यावहारिक पक्ष भी उनके समक्ष था। इसीलिए क्रियाकलापो की पौराणिक अलौकिकता के साथ उनमे सहज लौकिक, मानवीय प्रसगो का प्रवेश कराया गया है। समीक्षक कई बार द्वैत-अद्वैत और उसकी शाखाओ को लेकर उलझते है, पर सार्थक रचना साप्रदायिक अनुबध नही होती, तथा कई बार वह अपनी ही बनाई सीमाओ का निषेध भी कर जाती है। इसीलिए तुलसी विद्वानो को अस-मजस म डाल देते हैं अद्वैत द्वैत को लेकर और वह टिप्पणी करते हैं कि तुलसी

का दार्शनिक दृष्टिकोण न पूर्णतया शकराचार्य का अद्वैतवाद है और न रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत अथवा मध्वाचार्य का द्वैतवाद ही।[147] राम-कृष्णभक्त कवियों की आध्यात्मिक आधारभूमि भक्ति के माध्यम से मध्यकाल के लिए जीवनदर्शन की तलाश का प्रयत्न है।

मानवमूल्यों की स्थापना

मध्यकाल की प्रचलित जीवनदृष्टि के प्रति सपूर्ण भक्तिकाव्य के असतोष का उल्लेख हमने बार बार किया है और कहा है कि राम-कृष्णभक्त कवियों ने प्राय इसे सकेत से ही कहना चाहा है। कुछ समीक्षकों का यह अनुमान भी है कि तुलसी की परवर्ती रचनाए प्रमाणित करती हैं कि उनमे मोहभग की स्थिति आई और उनकी चेतना आदर्श स यथार्थ की ओर सक्रमण करती दिखाई देती है। 'हनुमानबाहुक' अथवा 'कवितावली' में काशी की महामारी के भयकर दृश्य कवि को भीतर से मथ देते हैं, वह कहते हैं कि स्थिति यह है कि दुष्ट फल-फूल रहे हैं, सज्जन दुखी हैं

फूलै फूलै फैलै खल, सीदै साधु पल पल,
खाती दीपमालिका, ठठाइयत सूप है।[148]

तो क्या तुलसी जैसे भक्तकवियों की यह आस्तिकी आस्था कि अततोगत्वा राम की विजय होगी, रावण पराजित होगा, कही लडखडाने लगी थी ? सभव है ऐसा एहसास कवियों को कही भीतर से हुआ हो क्योकि सामती परिवेश के कठोर शिकजे में कई बार ऐसी स्थितिया आई होंगी। पर विद्रोह—सपूर्ण विद्रोह के लिए अवसर न था, विशेषतया असगठित समाज म। तो क्या राम अथवा कृष्ण इन भक्त-कवियों के लिए पलायन का एक माध्यम है, जहा वे जनसमाज को ले जाना चाहते हैं अथवा एक भोला आत्मछल कि सही, अत म सब सुधर जाएगा। इसीलिए कई बार भाग्य या नियति की बात 'होइहै सोइ जो राम रचि राखा' आदि या इन कवियों द्वारा अनेक वक्तव्य देकर जनता का मनोबल जीवित रखने की चेष्टा भी और राम म सपूर्ण आश्रय पाने का उपदेश। इस समर्पण को कभी प्रपत्ति अथवा दास्य से, कभी सख्य से जोडा जाता है, यहा तक कि नवधा भक्ति तलाशी जाती है। चातक की कल्पना तक की गई जो सर्वश्रेष्ठ भक्त है 'एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास।'

भक्ति को वैचारिक आधार देने मे राम-कृष्णभक्त कवियों ने परपरा से प्राप्त चिंतन का भरपूर उपयोग किया और बिना उद्धरणों का बोझ डाले कहा जा सकता है कि उन्हें कविताओं मे खोजा-पाया जा सकता है। पर प्रश्न है कि इस भक्तिभावना और सामाजिक चेतना के माध्यम से क्या उन्होंने किन्ही जीवन-मूल्यों का सधान किया है ? मेरा विचार है कि राम-कृष्ण कवियों की रचनात्मक

भूमिका आराध्य का चरित्र गढ़ने के बाद, सबसे अधिक यही सक्रिय है। वे मध्यकाल के लिए कुछ वैकल्पिक जीवनमूल्य तलाशते हैं। उन्होंने मान लिया कि मध्यकालीन समाज का सही नैतिक आधार नहीं, वह माया में फंसा है और तीनों तापों से घिरा है, मर्यादाएं मिट गई हैं आदि। तो फिर उनकी सर्जनशीलता के लिए यह एक बड़ी चुनौती थी कि आखिर वैकल्पिक समाधान क्या है? और हम कह चुके हैं कि व्यवस्था की खोज में वे परंपरा से भी जुड़ गए। इतना ही नहीं, कई बार अपने समय समाज के यथार्थ को व्यंजित करने के लिए लोकाचार, लोकविश्वास, जादू, टोना, टोटका अनेक संस्कार आदि का जो वर्णन इन कवियों में आता है, उसे उनका पिछड़ापन मान लिया जाता है। लेकिन यह मानना कठिन है कि ऐसे प्रसंगों में सर्वत्र रचनाकारों की सहमति अथवा स्वीकृति ही है। कई बार यह वर्णन जीवनदृश्य को प्रामाणिक बनाने के लिए भी किया जाता है। बालक को कुदृष्टि न लग जाए, इस दिशा में कौशल्या और यशोदा सजग हैं राई-लोन उतारा जाता है, तिनके तोड़े जाते हैं झाड़-फूंक कराई जाती है। भाग्यवाद, ज्योतिष (फलित), शकुन-अपशकुन आदि मध्यकालीन व्यवस्था में गहरे प्रवेश कर गए थे और उनकी चर्चा कवियों द्वारा बार बार की गई है। कई बार मंगल-अमंगल के पूर्वाभास के लिए उनका उपयोग हुआ है, पर आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र कवियों की चेतना ऐसे प्रसंगों में सम्मिलित ही हो।

भक्तकवि, विशेषतया राम कृष्ण को लेकर चलनेवाले कवियों ने मध्यकालीन सामंती परिवेश से असंतुष्ट होकर जो वैकल्पिक जीवनमूल्य तलाशने चाहे हैं, वे अगर केवल वक्तव्य परिचालित होते तो संभवतः सामान्यजन के लिए अधिक उपादेय न होते। पूर्ववर्ती आचार्य परंपरा की पांडित्यपूर्ण दार्शनिक निष्पत्तियों की सीमाएं इस विषय में उन्हें सावधान करने के लिए काफी थीं। चरित्रों के माध्यम से कवियों ने जीवनमूल्यों को प्रक्षेपित करने का अधिकांश कार्य कर लिया और इसीलिए राम, कृष्ण महत्वपूर्ण इकाई हैं—देवाधिदेव, सर्वगुणसमुच्चय। उन्हें हम मध्यकाल में आध्यात्मिक आलोकदाता के रूप में देखते हैं, पर उनका संपूर्ण चरित्र संघर्षों के भीतर से यात्रा करता है और यदि कृष्ण का महाभारतवाला रूप कृष्णकाव्य में अधिक उजागर किया जा सका होता तो वह राम से भी अधिक वैविध्यपूर्ण हो सकता था। भक्तकवि व्यक्ति के रूप में राम, कृष्ण के प्रति समर्पित नहीं होते यहां वे स्वयं सामाजिक समर्पण के प्रतीक बनना चाहते हैं और अपने आराध्य में सर्वोत्तम जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठा कर उन्हें भी प्रतीकत्व देते हैं। कृष्ण की बाललीलाओं में पूतना, कागासुर, सकटासुर, तृणावर्त आदि का वध दिखाया गया है और राम जब विश्वामित्र की यज्ञरक्षा के लिए राक्षसों की पहली चुनौती झेलते हैं, तब वह किशोर ही थे। यहां मैं विशेष रूप से इस मानवीय तथ्य पर बल देना चाहूंगा कि प्रायः देवत्व की चर्चा करते

हुए इन अवतारों के जीवनसंघर्ष को भुला दिया जाता है। पर भक्तकवियों को एहसास है कि देवत्व के बावजूद उनमें मानवीय रंग उरेहने हैं ताकि उनका चरित्र सामान्यजन में विश्वसनीय हो सके।

जीवनसंघर्ष और मूल्यों की परीक्षा

क्या कृष्ण, राम का चरित्र एक संघर्षगाथा नहीं है? कृष्ण रासलीला की भूमि पर भी अनासक्त हैं, अंतर्धान हो जाते हैं। कारागृह में जन्म और बाल्यकाल में ही राक्षसों से टकराहट और अंत में कंस से द्वंद्व। प्रायः भ्रमरगीत प्रसंग में पीड़ा का संपूर्ण भार राधा, गोपी अथवा यशोदा आदि पर डाल दिया जाता है, पर कृष्ण इस स्नेहराशि को स्वीकारते हैं। सूर जैसे समर्थ कवियों ने इसे पहचाना और वह उद्धव से कहते हैं . 'सुनि ऊधौ मोहिं नेकु न बिसरत वै ब्रजवासी लोग'[149] अथवा 'ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।'[150] यहां कवियों ने प्रायः अपनी भक्तिभावना का प्रतिपादन करने के लिए उपासक-आराध्य के अन्योन्याश्रित संबंधों पर निष्कर्षात्मक टिप्पणी की है। राम की जीवनगाथा संघर्षगाथा है, पर वैयक्तिक नहीं, सामाजिक। वे सारे कष्ट समाज के लिए झेलते हैं और जिन उच्चतर मानवमूल्यों पर उनका चरित्र स्थित है, उनकी कीमत उन्हें चुकानी पड़ती है। यद्यपि इसका समाधान यह कहकर कर लिया जाता है कि ये उनकी लीलाएं हैं क्योंकि उन्होंने सामाजिक कल्याण के लिए जन्म लिया है, पर इस समाज की अपनी सीमाएं हैं

> बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
> निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ॥[151]

> गोकुल प्रगट भए हरि राइ।
> अमर उधारन, असुर सहारन, अंतरजामी त्रिभुवनराइ ॥[152]

जाहिर है कि जिन जीवनमूल्यों, मानवमूल्यों को स्थापित किया गया है वे मात्र कल्पित अथवा वायवी नहीं हैं, उन्हें जीवन के भीतर से पाने की कोशिश की गई है। यद्यपि हमने संकेत किया है कि वे प्रायः आदर्शवादी दृष्टि से उपजे हैं तथापि उनमें कई बार यथार्थवादी रुख भी हैं, जैसे राम द्वारा बालि का वध करना अथवा समुद्र को ललकारना। राम, कृष्ण के जीवनमूल्य वैयक्तिक न होकर, सामाजिक हैं और कवि मध्यकाल के टूटते-बिखरते समाज में उन्हें वैकल्पिक मानवमूल्यों के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। माना कि यह सब कुछ भक्ति के आध्यात्मिक ताने-बाने के भीतर से हुआ है और उसमें अध्यात्म का रंग गाढ़ा हो गया है तथा अलौकिकता के तत्व भी प्रवेश कर गए हैं पर उनके भीतर से मानवीय चेतना और उच्चतर मानवमूल्यों की खोज, थोड़ी चेष्टा करके देखी-पाई जा सकती है। मैं उन प्रसंगों का संक्षिप्त उल्लेख कर आया हूं जो राम, कृष्ण

ने अपने कृतित्व के द्वारा प्रमाणित किए हैं। कृष्ण मे रसिकता और माधुर्यभरे प्रसगो की बहुलता होते हुए भी उनका सामाजिक एहसास सलामत है। यद्यपि कृष्णकवियो ने आध्यात्मिक निष्पत्तियो के द्वारा सबका समापन भक्ति मे करना चाहा है, किंतु स्नेह का प्रतिदान, आश्रित की रक्षा, साहस, अनासक्ति भाव आदि के मूल्य उनके व्यक्तित्व म प्रतिपादित हुए हैं। कृष्णकाव्य के साथ कठिनाई यह हुई कि कृष्ण के जिस भक्तिभावना परिचालित रसिकेश्वर रूप को जीव ब्रह्म के घनिष्ठ मिलन की आध्यात्मिक व्यजना से सपन्न किया गया, उसके उच्च आशय तक पहुच पाना सामान्यजन के लिए कठिन था। सामती दबावो मे उसका दुरुपयोग हुआ तथा कमजोर जमीन पर खडे दरबारी कवियो मे इतनी शक्ति न थी कि उनमे नई सभावनाए जगा सकें। परिणाम यह हुआ कि एक कर्मभरा बहुरगी चरित्र लडखडा गया।

मूल्य और व्यक्तित्व

रामभक्ति के निर्माता अपने वैचारिक आधार के प्रति अधिक सावधान और सजग हैं तथा चरितनायक की अपेक्षाकृत वस्तुपरक जीवनरेखाओ के कारण उन्ह कुछ सहूलियतें भी थी। यद्यपि यहा भी उनके देवत्व का सकेत कई बार मानवीय जीवनदृश्य को तोडता है पर यह भक्ति सबधी आग्रहो के कारण है और यदि चरित्रो स्थितियो को उससे अलगाकर देखा जाए तो मानवमूल्यो की एक रूप-रेखा उभरती है। तुलसी जैसे सामाजिक चेतना सपन्न कवि ने तो लगभग सभी पात्रो को किन्ही मूल्यो से जोडकर उन्हे प्रतीकत्व देना चाहा है। राम अवतारी हैं और भक्तजन आश्वस्त हो सकते हैं कि अततोगत्वा बाजी उन्ही के हाथ रहेगी, पर क्योकि मूल्यो को जीवन के भीतर से पाना तथा प्रमाणित करना है, इसलिए यथार्थ सघर्ष उसमे पूर्णतया अनुपस्थित भी कैसे रह सकता है ? राम ने धनुर्भंग किया है, तो कायर राजा पीछे से वार करना चाहते हैं 'तोरे धनुष चाड नहिं सरई। जीवत हमहि कुअरि को बरई।'[150] ऐसे अवसरो पर कवि अपने चरित्रो को नई दीप्ति देते हैं, उसे मानवीय बनाते हैं। धनुर्भंग के पूर्व की स्थिति है और सीता का स्नेहभाव उमडता है शिरीष के फूलकण से हीरा कैसे बेधा जा सकेगा ? धनुष, थोडी गुरुता कम कर दो आदि। और राम का व्यक्तित्व ऐसे अवसरो पर निखरता है

गुरुहि प्रनाम मनहिं मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा।।
दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ। पुनि नभ धनु मडलसम भयऊ।।
लेत चढावत खैंचत गाढें। काहु न लखा देख सबु ठाढें।।
तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरे भुवन धुनि घोर कठोरा।।[151]

कई प्रसगो के माध्यम से कवि जीवनमूल्यो का प्रतिपादन करना चाहते है जिनमे

सर्वाधिक चर्चा भक्ति की है। लगभग सभी मे विनयपदो की प्रधानता है—प्रपत्ति, शरणागति, समर्पण, दैन्य आदि जिनमे अनेक प्रकार से आराध्य को एकमात्र आश्रयरूप मे चित्रित किया गया है। 'सूरसागर' के विनयपद और तुलसी की 'विनय-पत्रिका' मे भक्तिचेतना रागात्मकता के साथ प्रस्तुत हुई है, अन्यत्र उसकी वैचारिक चर्चा है और जब भी अवसर मिलता है कवि उसका विवेचन करते हैं। 'अयोध्या-काड' म वाल्मीकि कहते हैं : 'चिदानदमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी।'[155] राम स्वयं नवधाभक्ति की चर्चा शबरी से करते हैं[156] और सत अथवा पूर्ण मनुष्य के लक्षण गिनाते हैं, जहा वह स्वय आराध्य रूप मे वास करते हैं[157]—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर षट्विकारो से हीन। वास्तव मे इस माध्यम से नए मानवमूल्यो को उजागर किया गया है, वे गुनागार होते हैं पर पर्यवसान भक्ति मे ही होता है

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाही। पर गुन सुनत अधिक हरषाही॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीति। सरल सुभाव सबहि सन प्रीती॥
जप तप व्रत दमसजम नेमा। गुरु गोविंद विप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
बिरति विवेक विनय बिग्याना। बोध जथारथ वेद पुराना॥
दभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतुरहित परहित रत सीला॥[158]

अनेक रूपों मे मूल्यो की चर्चा की गई है और भक्ति, आध्यात्मिकता, आदर्श, नैतिकता आदि उसके प्रस्थानबिंदु है। रामराज्य का वर्णन इसी निमित्त हुआ है कि कवि नए मूल्यों को स्थापित करना चाहता है, यद्यपि हम कह आए हैं कि इसकी रेखाए काफी आदर्शवादी हैं। इस सबध मे उस 'विजयरथ' का विशेष महत्व है जब रावण से संघर्ष के ठीक पूर्व, विभीषण असमजस मे पडकर आशका से भर जाता है, कहता है : 'नाथ न रथ नहिं तन पदत्राना। केहि विधि जितिब बीर बलवाना ?' राम का उत्तर मानवमूल्यो का प्रतिपादन करता है—मध्य-कालीन सामती भोगवाद, आतक, दमन का सकारात्मक समाधान। मूल्यो की समझ के लिए इसे पुन उद्धृत करना होगा

सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेहि जय होइ सो स्यदन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ ध्वजा पताका॥
बल विवेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म सतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचडा। बर बिग्यान कठिन कोदडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद विप्र गुरु पूजा। एहि सम विजय उपाय न दूजा॥

सखा धर्मंमय अस रथ जाकें। जीतन कह न कतहु रिपु ताकें ।।
महा अजय ससार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ सुनहु सखा मति धीर ।।[159]

सामाजिक-सास्कृतिक चेतना और प्रदेय

मध्यकालीन भक्तिकाव्य का सास्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए कई बार विवरण, वृत्तात अथवा शब्दराशि के आधार पर कह दिया जाता है कि यहा तत्कालीन भारतीय जीवन प्रतिबिंबित है। यहा उसे दुहराना उचित नही, क्योकि इस दिशा मे तो लगभग शब्दकोष ही प्रस्तुत किए जा चुके हैं : आचार-व्यवहार, खान-पान, वसन-आभूषण मस्कार-उत्सव, विश्वास मान्यताए, देवी-देवता, व्यवसाय-वाणिज्य, धर्म भक्ति, राजनीति-राजकर्म आदि । राग रागिनिया तत्कालीन सगीत की प्रधानता बताती हैं।[160] हमारा प्रयोजन उस मूल सामाजिक-सास्कृतिक बुनावट को उजागर करना है जिसे कवियो ने दुहरे रूप मे प्रक्षेपित किया है एक तो अपने समय, समाज के दबावो को स्वीकारते हुए उसे चित्रित करना—एक यथार्थ स्थिति की स्वीकृति और दूसरे नई सामाजिक चेतना तथा मूल्यो की तलाश। जहा तक अपने समय को बाधने का प्रश्न है राम-कृष्णभक्त कवियो ने लगभग सपूर्ण जीवन का उपयोग अपने ढग से करना चाहा है, क्योकि यथार्थ अपनी पूरी दयनीयता मे आते आते रह जाता है, कवियो की आध्यात्मिक भक्तिचेतना के कारण। और इसे मध्यकालीन चिंतन की सीमा स्वीकारना होगा। पर कई बार उसे हिंदू पुनरुत्थानवाद आदि से जोडने की भयकर भूल की जाती है और समन्वय को सतकवि अथवा सूफियो तक सीमित कर दिया जाता है जो अधूरा साक्षात्कार है। एक ऐसे कालखड मे राम-कृष्णभक्ति धारा मे संबद्ध कवियों ने कार्य किया कि जब भारतीय समाज अपने लिए एक मिली-जुली सस्कृति लगभग तलाश चुका था और सार्थक रचनाए उसे स्वीकारे बिना यात्रा की सामाजिकता पार नही कर पाती थी। राम, कृष्ण किस प्रकार नए आध्यात्मिक सम्राट बनते हैं उसकी चर्चा हम कर आए हैं। कुरान, नमाज कलमा, रोजा, हज, जकात, बहिश्त, दोजख, सूफी, पीर, शेख, मुरीद आदि इस्लामी सहिता के वाचक अनेक शब्द यहा प्रवेश कर गए हैं और तुर्की, अरबी, फारसी के असख्य शब्द इन कवियो ने देसी भाषा मे इस प्रकार अतर्भुक्त कर दिए हैं कि सर्जनशीलता मे वे खपकर विलयित हो गए हैं और मध्यकाल की नई सामाजिक-सास्कृतिक चेतना का एहसास कराते हैं। सूर ने अमीन, मुजरा, कलई, खसम, मुसाहिब, कागद, खवास, अमानति, दगा, गुलाम आदि अरबी से और गुनहगार, कुलाह, गरीबनिवाज राह, मेहमान, दरबार, दाम, दीवान, दस्तक आदि फारसी से पाए हैं। तुलसी में किमव, सतरज, खसम, अरज, सूरति, मसखरी, रहम,

लायक, जहाज, खबरि, गरीब आदि अरबी से और जोलहा, गुमानी, बेचारा, निसाना, कागद, कूच, निसानी, सरम, परवाह, दाम, दरिया आदि सैकड़ों शब्द फारसी से पाए हैं। इतिहासकारों ने इसे देसी भाषा का विकास कहा है।[161] और मेरा विचार है कि भक्तिकाव्य की राम-कृष्ण काव्यधाराओं को मध्यकालीन भक्ति के जागरण से जोड़कर देखना चाहिए। अपनी रचनाशीलता से इन कवियों ने उस नए सांस्कृतिक परिवेश को बनाने में अपना सक्रिय योग दिया, अपनी आदर्शवादी सीमाओं में।

संदर्भ

1. मार्क्स-एंगेल्स · 'संकलित रचनाएं', भाग 3, पृ० 337
2 रामशरण शर्मा : 'भारतीय सामंतवाद', पृ० 21.
3. के० दामोदरन · 'भारतीय चिंतन परंपरा', पृ० 302.
4 पी० सरन : 'दि प्राविंशल गवर्नमेंट आफ दि मुगल्स', पृ० 33.
5 सतीशचंद्र : 'पार्टीज ऐंड पालिटिक्स ऐट दि मुगल कोर्ट', भूमिका, पृ० 8.
6 रामप्रसाद त्रिपाठी . 'सम एस्पेक्ट्स आफ मुगल ऐडमिनिस्ट्रेशन', पृ० 106
7 इरफान हबीब : 'दि एग्रेरियन सिस्टम आफ मुगल इंडिया', पृ० 167.
8. 'कवितावली' (तुलसी ग्रंथावली), पृ० 221.
9 नूरुल हसन : 'लैंड कंट्रोल ऐंड सोशल स्ट्रक्चर इन इंडियन हिस्ट्री', (सं० रा० इ० फ्राइकेनबर्ग), पृ० 29.
10 देवराज : 'संस्कृति का दार्शनिक विवेचन', पृ० 211.
11. रामविलास शर्मा : 'भाषा और समाज', पृ० 515.
12 विश्वम्भरनाथ उपाध्याय : 'मध्यकालीन हिंदी काव्य की तात्विक पृष्ठभूमि', पृ० 44.
13 त्रिलोकीनारायण दीक्षित : 'संतकवि चरनदास', पृ० 20.
14. 'दादू दयाल की बानी', 'पिउ को अंग', पृ० 46
15 'कबीर ग्रंथावली', पद 317
16. वही, पद 215.
17. वही, पद 217.
18. वही, पद 218.
19. वही, पद 221.
20 वही, पद 224
21. वही, पद 225.
22. वही, पद 239
23. वही, पद 244.
24. वही, पद 250
25. वही, पद 278.

26 वही, पद 262
27 वही, पद 259
28 हजारीप्रसाद द्विवेदी 'कबीर', पृ० 122
29 'रामचरितमानस', बालकांड, 46/2
30 वही, दोहा 266
31 वही, उत्तरकाड, 21/3
32 'गीतावली', लकाकांड, पद 7
33 इरफान हबीब 'दि एग्रेरियन सिस्टम आफ मुगल इंडिया', पृ० 97
34 'गीतावली', पद 14
35 वही, अयोध्याकाड, पद 10
36 वही, पद 16
37 वही, पद 19
38 वही, पद 24
39 वही पद 41
40 'रामचरितमानस', उत्तरकाड, 16/2-4
41 'वाल्मीकि रामायण', युद्धकाड, 12/14
42 'रामचरितमानस', सुदरकाड, 58/1-2
43 वही, अयो०, दोहा 114.
44 वही, उत्तरकाड, दोहा 80
45 'विनयपत्रिका', पद 139
46 'कवितावली', छद 25
47 रामचद्र शुक्ल 'गोस्वामी तुलसीदास', पृ० 32
48 र० शा० केलकर 'मराठी-हिंदी कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन', पृ० 50
49 ब्रजरत्नदास . 'नददास ग्रथावली', पृ० 290
50 'परमानद सागर' (गोवर्धननाथ शुक्ल), पद 265-283
51. वही, पद 268
52 वही, पद 269.
53 वही, पद 272
54 'नददास ग्रथावली', पृ० 285
55 दुर्गाशकर मिश्र 'रसखान का अमर काव्य', रसखान सुधा ग्रथ, पृ० 45.
56. मार्क्स एंगेल्स 'सकलित रचनाएं', भाग 2, पृ० 93-94
57. 'सूरसागर', पद 4380
58 वही, पद 4236.
59 वही, पद 633-634
60 वही, पद 704.
61 वही, पद 649
62. वही, पद 1460

63 वही, पद 3454
64 वही, पद 3458
65 वही, पद 3478, 3480, 3481, 3482, 3485, 3490, 3492
66 वही, पद 3511
67 वही, पद 638.
68 वही, पद 1029
69 वही, पद 1034
70 वही, पद 1038
71 वही, पद 1063.
72 वही, पद 1070.
73 वही, पद 185
74 के० एम० अशरफ 'लाइफ ऐंड कंडीशस आफ दि पीपुल आफ हिंदुस्तान', पृ० 60
75 प्राणनाथ चोपड़ा 'सोसाइटी ऐंड कल्चर इन मुगल एज', पृ० 4-5
76 नूरूल हसन 'लैंड कंट्रोल ऐंड सोशल स्ट्रक्चर इन इंडियन सोसाइटी', लेख, पृ० 7.
77 हमीदा खातून नकवी 'अर्बन सेंटर्स ऐंड इंडस्ट्रीज इन अपर इंडिया', पृ० 9
78 'विनयपत्रिका, पद 4
79 वही, पद 9
80 वही, पद 21
81 वही, पद 41
82 वही, पद 42.
83 वही, पद 139
84 वही, पद 71
85 वही, पद 249
86 वही, पद 248
87 'रामचरितमानस', अयो० दोहा 253 से
88 वही, 263/1
89 वही, दोहा 267.
90 वही, उत्तरकांड 12/1
91 वही, दोहा 422
92. 'सूरसागर', पद 231.
93 वही, पद 2131
94 'परमानंद सागर', पद 875
95 वही, पद 876
96. वही, पद 880
97 'सूरसागर', पद 64.
98 वही, पद 185
99 'नंददास ग्रंथावली', भवर गीत, पद 33

100 वही.
101 'सूरसागर', पद 4148
102 वही, पद 4107
103 वही, पद 4245
104 वही पद 4259
105 वही, पद 4271.
106 आबिद हुसैन , 'नेशनल कल्चर आफ इंडिया', पृ० [illegible]
107 क्षितिमोहन सेन 'मेडिवल मिस्टिसिज्म इन इंडिया', पृ० 204
108 रामप्रसाद त्रिपाठी 'सम एस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम एडमिनिस्ट्रेशन', पृ० 314-15
109 युसुफ हुसैन 'मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति', पृ० [illegible]
110 आबिद हुसैन 'नेशनल कल्चर आफ इंडिया', पृ० 92.
111 मो० यासिन 'सोशल हिस्टरी आफ इस्लामिक इंडिया', पृ० 49
112 'रामचरितमानस', उत्तर कांड, 98/1.
113 'कवितावली', छंद 46
114 रमेशकुंतल मेघ 'तुलसी आधुनिक वातायन से', पृ० 77.
115 'कवितावली', उत्तर कांड, 96
116 'रामचरितमानस', उत्तर कांड, 20 तथा 21
117 मलिक मोहम्मद (सं०) 'अमीर खुसरो', पृ० 105
118 नगेंद्र (सं०) 'हिंदी साहित्य का इतिहास', पृ० 234.
119 देवेंद्र प्रताप उपाध्याय 'रसखान जीवन और कृतित्व', पृ० 230, 238
120 माजदा असद 'रसखान', पृ० 346
121 माखनलाल रायचौधरी 'दि दीन इलाही', पृ० 87 88
122 ब्रजरत्नदास 'रहिमन विलास', दोहावली, दो० 1, 7
123 ताराचंद 'सोसाइटी ऐंड स्टेट इन दि मुगल पीरियड', प० 70
124 प्राणनाथ चोपड़ा 'सोशल लाइफ ड्यूरिंग दि मुगल एज', पृ० 53
125 हरदेव बाहरी 'पर्शियन इन्फ्लुएंस आन हिंदी', पृ० 8
126 'श्री नामदेव गाथा', पद 2290
127 माखनलाल रायचौधरी 'दि स्टेट ऐंड रेलिजन इन मुगल इंडिया', पृ० 22.
128 एस० एम० इकराम 'मुस्लिम सिविलिजेशन इन इंडिया', पृ० 227
129 'कवितावली', उत्तरकांड, 174
130 'रामायनी कथा', 237/49 50
131 'सूरसागर', पद 92
132 वही, पद 1772
133 'ध्यानमंजरी', 33-36
134 'रामचरितमानस', उत्तरकांड, 98/1
135 वही, 99/1
136 वही, 100/3 5

137 वही, अयोध्याकांड, दोहा 97
[illegible] 'कवितावली', अयो० 1
139 'रामचरितमानस', अयो० 324/1-4
140 'कवितावली', अयो० [illegible]
141 'सूरसागर', पद 1440
142 वही, पद 1489
143 'रामचरितमानस', लंकाकांड, 15/1
144 वही, बालकांड, दोहा 210
145 वही, दोहा 13 से
146 'सूरसागर', पद 681
147 राजपति दीक्षित 'तुलसीदास और उनका युग', पृ० 302
148 'कवितावली', उत्तरकांड, 171
149 'सूरसागर', पद 4773
150 वही, पद 4774, 4775
151 'रामचरितमानस', बालकांड, दोहा 192
152 'सूरसागर', पद 631
153 'रामचरितमानस', बालकांड, 266/2
154 वही, 261/3-4
[illegible] वही, अयो० 127/3
156 वही, दोहा 35, 36
157 वही, अरण्यकांड, दोहा 45
158 वही, 46/1-4
159 वही लंकाकांड, दोहा 80 क
160 सावित्री सिनहा 'ब्रजभाषा के कृष्णभक्तिकाव्य में अभिव्यंजना शिल्प', पृ० 367
161 एस० एम० जफर 'सम कल्चरल एस्पेक्ट्स आफ मुस्लिम रूल इन इंडिया', पृ० 154

समापन

मध्यकालीन हिंदी भक्तिकाव्य इतिहास के लबे दौर से गुजरता है और उसे कई शताब्दियो की यात्रा करनी पडती है। इतिहास, समाज के दबाव बराबर उस पर अपने प्रभाव डालते रहे हैं और उसने उन्हें आत्मसात किया है, यद्यपि कवियो की बनावट के कारण उनमे पार्थक्यरेखाएं खोजी जा सकती हैं, पर कुल मिलाकर मध्यकालीन हिंदी भक्तिकाव्य का एक समवेत व्यक्तित्व उभरता है। सप्रदायो, विचारधाराओ, साकार-निराकार आदि के प्रश्न उठाकर भक्तिकाव्य को खड खड करके देखना बहुत उपादेय नही है, बल्कि इससे उसकी सर्जनशीलता हमारी पकड मे नही आ सकेगी। हिंदी भक्तिकाव्य को कई स्तरो पर सघर्षरत देखा जा सकता है और उसने इन सबके बीच से अपनी पथरेखा तलाशी। पृष्ठभूमि मे उपस्थित है वह सामती सल्तनतकाल, जो काफी विलंब से अपनी अनुदारता से थोडा मुक्त हो सका और वह भारतीय समाज भी जो अलगाव को ही अपनी सुरक्षा मान बैठा था। एक लबे साहचर्य मे जब यह अलगाव टूटा तो सही सवाद की प्रक्रिया आरंभ हुई तथा सामान्यजन ने समाज मे स्वय को मुखर करना चाहा और तब देसी भाषाओ का व्यक्तित्व उजागर हुआ। इसे 'सहनशील धर्मनिरपेक्ष राज्य की कल्पना' की उपज भी कहा गया है।[1] भक्तिकाव्य इसी उदारचेतना की पृष्ठभूमि पर आया है और इसे मध्यकालीन भारतीय सामतवाद की सास्कृतिक प्रवृत्तियो से जोडकर देखना होगा, जिसमे कवियो ने सामान्यजन को रचना के माध्यम से प्रक्षेपित करने की कोशिश की है।

भक्तिकाव्य के सदर्भ मे राम कृष्णकाव्य की चर्चा करते हुए प्रायः कहा जाता है कि संतकाव्य अथवा निराकारी काव्य अधिक प्रगतिशील है और दबी जबान से यह सकेत भी कि साकारी काव्य परपराबद्ध। कहा जा चुका है कि इसका एक कारण इतिहास के परिवर्तित दबाव हैं और समाज, कम से कम बाहर से, अधिक स्थिरता का दावा कर सकता है, क्योकि केंद्रीय सामती व्यवस्था मे विद्रोही चेतना के प्रकाशन की गुजायश कम थी। यदि कभी केंद्र के दुर्बल क्षणो मे कुछ महत्वाकाक्षी शासक बगावत करना भी चाहते थे तो वे अपनी प्रजा का दुरुपयोग

तो कर लेते थे, पर यह नही कहा जा सकता कि सामान्यजन उस विद्रोह की सामाजिकता से भी परिचित थे। देवत्व, अवतारवाद को केंद्र मे रखकर चलने के कारण भी राम कृष्णकाव्य की अपनी सीमाए बन जाती है, क्योकि उनके इर्द-गिर्द निर्मित पौराणिक व्यूह को मध्यकाल मे पूरी तरह तोड पाना सभव न था। इतना अवश्य है कि देवो के मानवीकरण मे इन कवियो ने सक्रियता बरती और उन्हें जनसामान्य के बीच उपस्थित किया। इसी कारण कृष्ण इतनी रसिक भूमि पर सचरित हैं और यदि कवि बार बार उनके अवतारत्व का सकेत न करें तो किसी मध्यकालीन उदार सामत का भी भ्रम हो सकता है।

राम और कृष्ण विष्णु से जुडे हुए हैं, इसलिए कवि चाहकर भी उस लबी परपरा के पूर्ण विरोध मे खडे नही हो पाते जो कई शताब्दियो मे फैली हुई है और जिसने सपूर्ण देवकल्पना तथा भक्तिचितन पर अपने दबाव छोडे है। कबीर, दादू, रैदास, नानक आदि कवियो मे सामाजिक विद्रोह मुखर है, पर क्या उसकी भी अपनी सीमारेखा नही है ? एक ओर वे जातिवाद, सप्रदायवाद, आडबर, ढोग, पाखड पर तीखे आक्रमण करते हैं, दूसरी ओर ऐसे वैकल्पिक आराध्य की तलाश भी करना चाहते है जहा सभी शरणागत हो सकें। कबीर की समन्वित रचनाए भक्ति के वृत्त को पूरा करती हुई सघर्ष और समर्पण की मिली-जुली तसवीर बनाती है। राम-कृष्णकवियो की भक्तिचेतना मध्यकालीन सामाजिकता से अलगाकर नहीं देखी जा सकती। अपनी बात कह सकने के लिए उन्होंने देवो का मानवीकरण किया और उस समय को देखते हुए यह कम साहसपूर्ण कदम नही है। प्राय माना गया है कि तुलसी शील, मर्यादा से बधे हुए हैं और राम-सीता के सदर्भ मे शृगार के स्थलो को प्राय बरा जाते है। ऐसा कवि की मानसिक बनावट के कारण भी हो सकता है, अन्यथा 'प्रसन्नराघव' जैसी उन्मुक्त कृतिया भी हैं। लेकिन तुलसी को जब अवसर मिलता है तब वह सयत भाव से ही सही, अपने आराध्य के सिलसिले मे भी शृगार की रेखाए उभारते है क्योकि वह जानते हैं कि जीवनदृश्य पूरा करना है। हम सीता और राम के स्नेहभाव को ले सकते हैं जिसे पूर्वानुराग के रूप मे कवि ने व्यजित किया है 'चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत'[2] और राम भी 'सिय मुख ससि भए नयन चकोरा।' तुलसी अपनी नैतिक दृष्टि के कारण सीता के रूपवर्णन के शृगारी दृश्य उरेहने मे सकोच करते हैं, यह सही हो सकता है, पर वह इस सौंदर्य को शारीरिक रेखाओ से ऊपर उठाना चाहते हैं—मध्यकालीन भोगवाद को चुनौती देते हुए। इतना ही कहते हैं

सुदरता कहु सुदर करई। छविगृह दीपसिखा जनु बरई ॥
सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहि पटतरौ बिदेहकुमारी ॥[3]

तुलसी राम की रूमानी चेतना की रक्षा करते हुए इसी क्रम म दोहे म कह देते हैं

कि सौंदर्य पर मुग्ध तो हैं, पर मन में पवित्रता है 'बोले सुचि मन अनुज सन, बचन समय अनुहारि।' अथवा लक्ष्मण से कहना 'सहज पुनीत मोर मन छोभा।' रघुवंशी कुपथ पर पैर नहीं रखते, सपने में भी पराई स्त्री पर दृष्टि नहीं डालते आदि। प्राय लताओं की ओट से राम-सीता एक-दूसरे को देखते हैं और एक गहरा द्वंद्व 'सुमिरि पिता पनु मनु अति छोभा।' मध्यकालीन अवतारवाद के क्रम में सीता को गौरा का आशीष भी मिल जाता है

मनु जाहिं राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुंदर सावरो,
करुनानिधान सुजान सीलु सनेहु जानत रावरो।[4]

सीता राम का मानवीकरण करने के लिए तुलसी धनुषयज्ञ के प्रसग का सही उपयोग करना चाहते हैं, अन्यथा सारा वर्णन यांत्रिक बनकर रह जाने का खतरा है। राम धनुषभंग के लिए प्रस्तुत हैं 'उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल-पतंग।' सीता में एक यातनाभरी चिंता और वह शंकर-पार्वती से प्रार्थना करती हैं कि मैंने तो सदैव तुम्हारी सेवा की है 'करि हितु हरहु चाप गरुआई', अथवा गणेशजी से 'करहु चाप गुरता अति थोरी।' इस प्रसंग को तुलसी ने विस्तार दिया है—सीता के मानवीय रूमानी संवेदन उजागर करने के लिए। सीता यातना से गुजरती है, कहती हैं किस प्रकार धीरज धरूं? शिरीष के कोमल फूलकण हीरे को कैसे बेध सकेंगे? फिर शिव के धनुष से ही विनय 'अब मोहि संभु चाप गति तोरी' और 'निज जडता लोगन्ह पर डारी।' उनके लिए यह क्षण युग के समान है, 'प्रति परिताप सीय मन माही। लव निमेष जुग सय सम जाही।' और तुलसी रूमानी परेशानी को बांधते हैं

प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल॥
गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी॥
लोचन जल रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना॥[5]

सीता मन ही मन राम का वरण कर लेती हैं 'प्रभु तन चितइ प्रेम तन ठाना।' राम की भी स्थिति यही है कि धनुष तोडने के मूल में प्रेयसी की प्रेरणा है सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे। चितव गरुड लघु ब्यालहि जैसे॥' अवतारवाद की दृष्टि से यह पूर्वानुराग पूर्ण नैतिक न हो, किंतु इससे तुलसी अपने देवचरित्रों को मानवीय आधार देते हैं और मानवमूल्यों की उच्चतम गरिमा के साथ, जिसमें उनकी आध्यात्मिक चेतना भी सम्मिलित है, जिससे उसकी सीमाएं भी बन गई हैं।

राम-कृष्णभक्ति काव्य के संदर्भ में एक भूल यह हुई कि उसे हिंदू पुनरुत्थानवाद से जोड़कर देखा गया, क्योंकि वह अवतारी कल्पना से संबद्ध है। इस सिलसिले में दिलचस्प तथ्य यह है कि कुछ संत कवियों अथवा सूफियों को अलगा लिया गया और उनमें सांस्कृतिक समन्वय के बिंदु सरलता से तलाश लिए गए। पर

समस्त भक्तिकाव्य मध्यकालीन जागरण की पीठिका पर उपजा है, इसलिए सीमाती दूरी उनमे सभव नही। होता यो है कि किसी भी आदोलन की शुरुआत सामान्य-जन की अकुलाहट से होती है और जब वे अपने विक्षोभ को दबा नहीं पाते, तब अनेक रूपो मे उसे अभिव्यक्ति देते हैं। आलवारो मे प्राय साधारणवर्ग से आए भक्त थे, जिन्होने सहज भाव से अपनी यातना को प्रकाशित करके भक्ति के लिए एक नए परिवेश का आरभ किया था। पर हर बार यही होता है कि किसी भी आंदोलन की अगुआई के लिए जैसे उच्चवर्ग अथवा उसके द्वारा समर्थित कुछ लोग जल्दी से तैयार हो जाते हैं और जनादोलन का मनचाहा नेतृत्व करने लगते हैं। आचार्यवाद अथवा सहिताकरण (कोडीफिकेशन) की यही कथा है। यद्यपि इनमे रामानद जैसे सामाजिक चेतना से सपन्न व्यक्ति भी हैं, पर प्राय आचार्यों का पाडित्य और शास्त्रज्ञान जीवनप्रवाह से उन्हे पूरी तरह जुडने नही देता। कबीर आदि सतो ने इसीलिए अनुभवज्ञान पर बल दिया और केवल अनुमान किया जा सकता है कि तुलसी को परपरा, शास्त्र, पडिताई से कितना लडना झगडना पडा होगा, अपनी सामाजिक चेतना उजागर कर सकने के लिए।

राम-कृष्णभक्ति काव्य के रचयिता जिस कालखड मे अपना सर्वोत्तम दे रहे थे उसमें समाज के दो लगभग सीमाती वर्ग स्पष्ट थे सामत और सामान्यजन। पर इन भक्तकवियो की स्थिति क्या है और वे कहा पर उपस्थित है, यह भी विचारणीय है। हम कह आए हैं कि उनके उपास्य राम, कृष्ण मध्यकाल के लगभग समानातर नायक हैं, राम अपने समय की कई मान्यताओ को चुनौती देते हुए और कृष्ण सहज लीलाभूमि पर आकर। लेकिन उनके आस-पास कुछ सामती तत्व आ गए हैं—राजदरबार आदि। सामान्यजन—कृषक-चरवाहा उनमे उपस्थित हैं पर यहीं यह भी देखना होगा कि वे कितनी दूरी तक और किस रूप मे उनके साथ यात्रा कर रहे है। समाजीकरण के बावजूद राम, कृष्ण का वैशिष्ट्य सुरक्षित है—अलौकिकता म तथा अन्य रूपो मे भी। ऐसा केवल भक्ति के आलबन अथवा उपास्य होने के कारण नही है। मेरा विचार है कि कई बार इसम कवियो की वर्गचेतना भी सक्रिय है, जिसकी पहचान कठिन है, केवल अनुमान किया जा सकता है। मध्यवर्ग लगभग हर व्यवस्था म बडी ढुलमुल भूमिका निभाता है, कभी यहा कभी वहा, पर प्राय बौद्धिक आदोलनो की अगुआई भी वही करता है। मार्क्स ने प्राचीन भारतीय सामाजिक ढाचे के बारे म लिखा है कि सार्वजनिक निर्माण कार्य केंद्रीय सरकार की देख रेख म और दूसरी ओर कृषि-हस्त उद्योग की घरेलू एकता से बधे छोटे छोटे समुदाय। इन्हे वह ग्राम व्यवस्था का सामाजिक ढाचा कहता है।[8] मध्यकालीन केंद्रीय शासनतत्र को अपना काम चलाने के लिए छोटे राजकर्मचारियो तथा थोडा पढे-लिखे लोगो के मध्यवर्ग का भी सहारा जरूरी था। रचना म इस मध्यवर्ग की निश्चित सक्रियता है जो

सामान्यजन को अपना कथ्य बनाता हुआ भी, स्वयं को संपूर्ण रूप से निम्नवर्ग के साथ विलयित नहीं कर पाता। यह बात मैं विशेष रूप से राम-कृष्णकाव्य के संदर्भ मे कह रहा हू, जहां इनके नायको के अवतारो का वैशिष्ट्य सुरक्षित है और इसीलिए मुहावरा भी सुसंस्कृत, शालीन तथा अभिजात शैली को स्वीकारते हुए चलता है। किसी भी रचना की बनावट मे उसके वर्गीय चरित्र की जो अहम भूमिका रहती है, उसे भुलाया नही जा सकता। सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के अध्ययन मे इसे ध्यान मे रखना होगा।

भक्तिकाव्य, विशेषतया राम-कृष्णकाव्य के अध्ययन म एक बड़ी बाधा अवतारी कल्पना है, जिसके कारण पर्याप्त समय तक रचनाओं को केवल भक्तिमार्गी मुद्रा से देखा गया। पर सार्थक रचना अपने समय, समाज की भूमि पर उपस्थित होती है और उसकी सही जानकारी के बिना उसे ठीक से जाना-पहचाना नही जा सकता। मध्यकाल प्राचीन भारतीय समाज, जिसे हिंदू समाज कहा जाता रहा है, एक ऐसे धर्म से टकराता है जो कई अर्थों मे उससे बिलकुल पृथक है—मूर्तिपूजा आदि के प्रश्न पर। ऐसे म अपनी सुरक्षा के नाम पर वह अंतर्गुहावासी हो गया, उसने पलायन किया और इसका सर्वाधिक लाभ पुरोहितवर्ग ने उठाया। मध्यकालीन इतिहास के पहले दौर सल्तनतकाल म जो जातीय कट्टरता और धार्मिक अंधविश्वास क्रमश जोर पकडते गए, उसके मूल मे यही पुरोहितवर्ग है, जो सामान्यजन की चेतना पर शासन करता आया है। इसीलिए ध्यान देने की बात है कि जब मुगल शासको ने धार्मिक उदारता की नीति अपनाकर धर्म को राजनीति से अलग किया तो पुरोहित तथा मुल्लावर्ग ने उसका विरोध किया, क्योकि इसमे उनके निहित स्वार्थों को धक्का लगा, पर क्रमश एक सामाजिक-सांस्कृतिक समन्वय सक्रिय हुआ और राम-कृष्णकाव्य उसी व्यापक भक्ति आदोलन की उपज है। इतिहास, समाज की सही समझ उसकी पहचान के लिए आवश्यक है क्योकि इन्ही दबावो मे ये रचनाए रूपायित हुई हैं।]

भक्तिकाव्य मे, विशेषतया राम-कृष्णकाव्य मे, चूकि यह अवतारवाद म जुड़ा हुआ है, विष्णु की लंबी यात्रा और भक्तिचिंतन के विभिन्न चरणो की चर्चा हुई है। कोई भी चिंतन अपने समय और समाज के दबावो मे बनता-बिगडता है तथा परपराए पुनर्परिभाषित होती हैं। राम, कृष्ण को लेकर आज भी रचनाए की जा रही हैं, पर प्राय उनम देवत्व अनुपस्थित है, क्योकि ईश्वर की सत्ता मे ही संदेह किया जा चुका है और उसके आगे कई तरह के प्रश्नचिह्न लग चुके हैं। अवतारवाद और भक्तिचिंतन के परपरित रूप को देखने की आवश्यकता इसीलिए पड़ी, क्योकि हम राम कृष्ण भक्तिकाव्य की पार्श्वरेखाओ और उसके सर्जनशील व्यक्तित्व को भी जानना चाहते हैं। इस काव्य से सही साक्षात्कार तभी सभव है जब भक्तिचिंतन सबधी सप्रदायवादी घेरे को तोडकर उसे सामा-

जिक चेतना, बौद्धिक जागरूकता, मानवीय सरोकार, मूल्यों की तलाश के परिप्रेक्ष्य मे देखा-परखा जाए। हमने बार बार रेखांकित किया है कि राम-कृष्ण भक्तिधारा के कवि स्वयं गहरे द्वंद्व से गुजरते हैं क्योंकि मध्यकालीन समाज खुद अपने अंतर्विरोधों मे फंसा हुआ है। मसलन सामंती भोग-विलास से वह चमत्कृत होता है, यहा तक कि आतंकित भी, पर वह उससे असंतोष भी व्यक्त करता है। उसके संपूर्ण विरोध मे खड़े होने के लिए वह एक नई राह पकड़ता है। कवि अपने राम, कृष्ण को उस मध्यकालीन वैभव का थोड़ा हिस्सा दूसरे ढंग से दे देते हैं—उन्हें अलौकिक बना देते हैं, सर्वशक्तिमान, यथार्थ से किनाराकशी करते हुए एक नया आध्यात्मिक लोक जन्मात हैं जहा भोग का निषेध है, उच्चतर जीवनमूल्यों की प्रतिष्ठा है। पर दृष्टि आदर्शवादी है, इसलिए यथार्थवादी समाधान के लिए गुंजायश कम है। मध्यकाल के भयावह यथार्थ से जूझते हुए—अकाल, महामारी, समाज की विसंगतियां, लड़खड़ाते जीवनमूल्य, इनके बीच भी कवि अंतिम आश्रय के रूप म राम, कृष्ण का वरण करते हैं, वैयक्तिक भक्त के रूप मे नहीं, संपूर्ण समाज को वहा समर्पित करते हैं। राम की अयोध्यानगरी के केंद्र म उनका देवत्व है और 'सूरसागर' मे गोकुल कृष्ण के पास पहुचता है। अच्छाई यह है कि कवियो ने उपास्य को जीवनसंघर्षों से गुजारा है ताकि उनका प्रमाणीकरण हो सके, उनके व्यक्तित्व को नई दीप्ति मिले और व विश्वसनीय हो। रचना के आदर्शवादी तेवर इसकी सीमा हैं, पर देवत्व का मानवीय सरोकार इसकी शक्ति।

भक्तिकाव्य के सार्थक कवियो ने अपने समय के लिए नए मूल्यों को तलाशने की कोशिश की, पर उनकी मुद्रा अपेक्षाकृत सम्प्रदायबद्ध अथवा पंथबद्ध नहीं है, अन्यथा वे अश्वघोष के बुद्धचरित के रचयिता बनकर रह जाते। मध्यकाल म सम्प्रदायों की यह बिगड़ी स्थिति थी कि एकेश्वरवाद पर स्थापित इस्लाम भी भारतीय जातिवाद का शिकार हो गया और जो सूफी संत धार्मिक उदारता लेकर चले थे उन्ह भी कई सम्प्रदायों म बांट दिया गया—चिश्ती, सुहरवर्दी, कादिरी, नक्शबंदी आदि। राम कृष्णभक्त कवियो को प्राय विभिन्न चिंतनधाराओं, दार्शनिक निकायों, यहा तक कि सम्प्रदायों मे भी जोड़ा जाता है, पर इन काव्यधाराओं का सर्वोत्तम समन्वयदृष्टि लेकर चला और मानवीय उदारता उसकी आकांक्षा है। यहा एक संकेत यह भी करना चाहूगा कि मंदिरो, मठो क इर्द गिर्द कुछ दार्शनिक चिंतन उपजे और कहा जाता है कि सूर आदि अष्टछापी कवियों की रचनाए मंदिरो के लिए कीर्तन, प्रार्थनापदों आदि के रूप मे निर्मित हुईं। इससे उसकी कुछ सीमाए बन जाती है और कृष्णकाव्य विशेष तौर पर भावनामूलक हो गया है तथा कई बार बौद्धिक प्रतिक्रियाओं के लिए गुंजायश कम रहती है। लेकिन जब कवि अपने आराध्य को कर्मक्षेत्र मे सक्रिय करत हुए, उन्हे मानवधर्मिता का प्रतीक बनाते हैं, तब उनका व्यक्तित्व पलायन नहीं करता—जैसे कृष्ण गोवर्धन-

पूजन के प्रसग मे। राम रावणवध के समय भी सौंदर्य नही खोते—सामाजिक क्रोध के कारण 'अरुन नयन वारिद तनु स्यामा। अखिल लोक लोचनाभिरामा।'[7]

अपने समय से असतुष्ट कवि यथार्थ से अधिक न उलझकर एक नए आदर्श-लोक की कल्पना करते हैं, पर आदर्शवादी तथा आध्यात्मिक रेखाओ से निर्मित होकर भी वह वायवी नही हैं। धर्म, राजनीति, दर्शन, व्यवहार, आचरण, परिवार आदि जीवन के अनेक प्रश्नो पर इन कवियो ने टिप्पणिया की हैं। मध्यकाल अपनी सामती चमक-दमक और जगमगाहट मे सस्कृति-कला के क्षेत्र मे कुछ ऊचाइयो का दावा कर सकता है पर अधिकाश समाज तो जीवनयथार्थ से जूझ रहा था। इसीलिए तुलसी उस राज्यशासन की कल्पना करते हैं जहा सूर्य की तरह राजा जनता से कर ले लेगा पर वर्षा के बादलो के रूप म उसे लौटा देगा,[8] वह चुटकी लेते हैं कि ऐसे राजा कठिनाई से मिलते हैं

माली, भानु, किसान सम नीति निपुन नरपाल
प्रजा-भाग बस होहिंगे कबहु कबहु कलिकाल।[9]

भक्तिकाव्य हिंदी साहित्य का सार्थक सृजन है और उसमे कबीर, जायसी, सूर, तुलसी मीरा जैसे कवियो ने हस्ताक्षर किए हैं पर लगभग एक ही कालखड मे यात्रा करते हुए भी, रचनाकारो की बनावट ने उनकी कृतियो को रूपायित किया है। जहा तक राम कृष्ण काव्य का सबध है, स्वय उसके सामने कई प्रकार के प्रश्न उपस्थित हैं जिनम मुख्य है कि इन उपास्यो के देवत्व को सुरक्षित रखते हुए, उनमे नए सदर्भ कैसे जगाए जाए। यही इन कवियो की रचनाशीलता की परीक्षा होती है और वे मध्यकाल को लगभग चुनौती देते हुए, अपने चरितनायको को जीवनमूल्यो के सस्थापक रूप मे प्रतिष्ठित करते हैं। स्वीकारना होगा कि राम, कृष्ण उनकी रचनाओ म नया व्यक्तित्व पाते हैं—एक प्रकार से उनका पुनर्जन्म होता है। रचना के दौर मे लगभग हर बार यही होता आया है कि पौराणिक चरित्रो की प्रचलित गाथा से जूझते हुए उनमे समय, इतिहास के अनुरूप नए सदर्भ जगाने की कोशिश की जाती है। निराला के राम स्वय शक्तिमान होते हुए शक्तिपूजा करते हैं। सघर्ष के दौरान भीतर भीतर टूटते भी हैं और रूमानी ढग से सीता की स्मृति उन्हे नया आलोक दे जाती है 'ऐसे क्षण अधकार घन मे जैसे विद्युत। जागी पृथ्वीतनया कुमारिका छवि अच्युत ।' उसमे नए सदर्भ हैं - 'अन्याय जिधर है उधर शक्ति' अथवा धिक् जीवन जो पाता ही आया है विरोध' आदि। अत मे राम का सकल्प जीतता है 'वह एक और मन रहा राम का जो न थका, जो नही जानता दैन्य, जानता नही विनय।' नरेश मेहता का सशय की एक रात' राम के नए स्वरूप को सामने लाना चाहता है 'क्वचित कर्म हू, प्रतिश्रुत युद्ध हू।' भारती कृष्ण के दोनो रूप उभारना चाहते हैं 'अधायुग' मे युद्ध-शाति का प्रश्न उठाते हुए 'हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कही न कही' और

'कनुप्रिया' मे कृष्ण-राधा के रूमानी प्रसगो को। भारतभूषण अग्रवाल का 'अग्निलीक' राजनीतिक महत्वाकांक्षा और रामराज्य के खोखलेपन पर तीखी टिप्पणी करता है। भक्तिकालीन राम-कृष्ण कवियो ने चरितनायको को नया व्यक्तित्व दिया, जिसमे जीवनसवेदन उपस्थित है।

भक्तिकालीन राम-कृष्णकाव्य का सास्कृतिक अध्ययन करते हुए हमने उस सामाजिक-सास्कृतिक चेतना को सामने लाने की चेष्टा की है जो उसका मूल प्रस्थान बिंदु है। इस सदर्भ मे वह शब्दराशि शोधकर्ताओ द्वारा सकलित की गई है, जिसके माध्यम से कवियो ने मध्यकालीन परिवेश को व्यजित करना चाहा है। हमारे लिए यह सामग्री उपयोगी है, पर ध्यान रखना होगा कि शब्द का प्रयोग ही काफी नही है, उसके सदर्भ भी देखने होगे और पता लगाना होगा कि इनके माध्यम से कवि क्या कहना चाहते हैं। भाषा यदि शब्दकोष से पाई गई है अथवा केवल भुलावा देने के लिए कुछ शब्द या मुहावरे इधर-उधर से उठा लिए गए है तो सर्जनशीलता का सही पता नही चलता। भाषा एक सामाजिक सपत्ति है और समय के दबावो मे रूपायित होती है, उसे केवल वैयक्तिक प्रयोग नही माना जा सकता। जब जब वह जीवनसदर्भों से अलग-थलग पड गई है, उसकी सामाजिकता टूटी है और रचनाशीलता का क्षरण हुआ है, रचना के वे कमजोर क्षण रहे है, अधिक से अधिक नक्काशी या पच्चीकारी, पर वृहत्तर जीवन उसमे अनुपस्थित है।

मध्यकालीन भक्तिकाव्य की भाषा अपने समय-समाज को सामने लाने की चेष्टा करती है, यद्यपि हम कह आए हैं कि उसकी अपनी सीमाए हैं। डा० रामविलास शर्मा ने कई हवालो से बताया है कि इस समय की भाषा सास्कृतिक मेल-जोल से उपजी है और बाहर से आनेवाले भिन्न भिन्न क्षेत्रो के मुसलमान यहा की जातियो मे घुल मिल गए थे और उन्होने यहा की भाषाओ को अपना लिया था।[10] राम-कृष्णभक्त कवियो ने मध्यकालीन जीवन को अपनी रचनाओं द्वारा प्रक्षेपित करना चाहा है और इसके लिए उन्हे अपने मुहावरे को जिदगी के भीतर से प्राप्त करना पडा। मुख्यतया इसमे सामान्यो का समाज उपस्थित है पर जो सामती दबाव थे उन्हे पूर्णतया नकारना सभव न था, इसीलिए कई बार ग्राम-नगर सस्कृति का एक मिला-जुला रूप भी यहा देखा जा सकता है, यद्यपि उसका मूलस्वर सामान्यजन को प्रमुखता देता है। इन कवियो मे मध्यकाल का लगभग सपूर्ण समाज ही प्रतिबिंबित हो गया—उनके जीवनदृश्य, सस्कार, आचार विचार, लोकविश्वास, उत्सव मान्यताए, सुख-दुख आदि। तुलसी ने 'बालकाड' के अतिम अश मे विवाहसस्कार का विस्तृत वर्णन किया है जो मूलकथा के लिए अधिक उपयोगी नही है, किंतु प्रचलित सस्कारो पर प्रकाश डालता है। लगभग सत्तर दोहो मे इसे बाधा गया है और आरभ है 'बूझि विप्र कुलवृद्ध गुरु वेद विदित आचारु।'[11] सुदर अलकृत मडप, देवमूर्तिया, मगलद्रव्य, चौक, ध्वजा पताका,

चवर आदि जनकपुरी की नगर संस्कृति का बोध कराते हैं, पर प्राचीन संस्कार भी वहा उपस्थित हैं और सामान्यजन उसमें शरीक हैं। अयोध्या में जब यह शुभ समाचार पहुचता है तो सुनि सुन कथा लोग अनुरागे। मग गृह गली सवारन लागे।'[12] एक ओर विश्वविमोहन राजभवन है तो दूसरी ओर मगलगान गाती हुई सामान्यजन की प्रतीक नारिया। बारात चलने का विस्तृत वर्णन—घोड़ा, हाथी, रथ, छैल-छबीले राजकुमार, मणि, आभूषण, मागध, सूत, भाट सब नागर दृश्य बनाते हैं, पर कवि सामान्यजन को साथ रखता है 'महाभीर भूपति के द्वारे !' जनकपुर में बारात का स्वागत स्वर्णकलश तथा भाति भाति के पकवान, मिथिला का मशहूर खाना दही चिउड़ा, अगवानी करते राजा जनक, जनवासे म उपस्थित सिद्धिया आदि। तुलसी नागर दृश्यो का सकेत करत हुए बार बार सामान्यजन की ओर लौटते हैं मगलगान गाती स्त्रिया। जनसामान्य के सवेदन की अभिव्यक्ति के लिए उन्होने 'पार्वतीमगल', 'जानकीमगल', 'रामलनानहछू' आदि की रचना की। 'रामचरितमानस' के इसी प्रसग मे नाऊ, बारी, भाट निछावरि पाते हैं,[13] भावरें पड़ती हैं और जेवनार का विस्तृत वर्णन आदि। यह सारा प्रसग औपचारिक बनकर रह जाता यदि कवि वहा उपस्थित न होता, पर तुलसी को जहा अवसर मिलता है वे उसे सवेदन स जोड़ते हैं। सीता हाथ के कगन के नग म राम की परछाईं म खोई हुई हैं

निज पानि मनि महु देखिअत मूरति सुरूपनिधान की
चालति न भुजवल्ली विलोकनि बिरह भयबस जानकी।[14]

दूलह श्रीरघुनाथ बने दुलही सिय सुदर मदिर माही।
गावति गीत सबै मिलि सुदर बेद जुवा जुरि विप्र पढाही।
राम को रूप निहारति जानकी ककन के नग की परछाही।
यातें सबै सुधि भूलि गई कर टेकि रही पल टारत नाही।[15]

कन्या की विदाई के समय के आर्द्र दृश्य भी हैं माताए बार बार बेटिया को गले लगाती हैं, पहुचाती और फिर लौटकर मिलती हैं, जैसे नई ब्याई गाय और बछड़ा 'बाल बच्छ जिमि धेनु लवाई।' कवि कहता है प्रेम मे डूबा रनिवास ऐसे है, जैसे करुना बिरह निवासु !' यहा तक कि शुक-सारिका भी उदास हैं, जिन्हें जानकी ने पाल पोसकर बड़ा किया था—'अभिज्ञान शाकुतलम्' जैसा दृश्य ! सस्कारो की चर्चा के भीतर से इन कवियो ने मानवीय प्रसगो को उभारा है, जिससे उनकी सामाजिक सर्जनशीलता का पता चलता है।

राम कृष्ण कवियो की रचनाए समय-समाज को विवित करने के लिए स्मरण की जाएगी और एक प्रकार से मध्यकालीन इतिहास की कुछ रेखाए उभारती हैं भाग्यवाद मे फसा देश—जादू, टोना, टोटका, शकुन अपशकुन, भूत-प्रेत,

झाड-फूक, तन्त्र-मन्त्र आदि। आनेवाली घटना की पूर्व सूचना मिल जाती है—राम, कृष्ण की जीत होनी है इसलिए शकुन और रावण-कस को पराजित होना है, इसलिए अपशकुन। जन्म से लेकर मृत्यु तक के सस्कार इनमे आ गए हैं जात-कर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कनछेदन, उपनयन (यज्ञोपवीत), विवाह और अतिम सस्कार तक अर्थात एक सस्कारी ढाचे मे बधा हुआ समाज जो विद्रोह नही कर पा रहा है। ये कवि सुधारवादी दृष्टि रखते हैं और परिवर्तन की कामना भी करते हैं पर किन्ही मर्यादाओ के भीतर ही। मध्यकाल मे सामाजिक-पारिवारिक ढाचे मे दरारें पडने लगी थी और राम-कृष्णभक्त कवि उसे अपने ढग से बनाए रखना चाहते हैं। इसलिए सामाजिक मर्यादाओ की अपनी रूपरेखा पेश करते हैं, जिसमे परपरा के कुछ तत्व बने रहे, ब्राह्मण देवता भी सही-सलामत रहे। नारी को सलाह दी जाती है—पतिव्रता बनी रहने की और अनुसूया अरण्य-काड के आरभ मे सीता से कहती हैं 'एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय वचन मन पति पद प्रेमा।'[16] यहा मैं एक तथ्य की ओर इशारा करना चाहूगा क्योकि प्राय तुलसी के नारी सबधी पूर्वग्रहो का उल्लेख किया जाता है। इसके कारण वैयक्तिक न होकर सामाजिक हैं और मध्यकालीन भारतीय समाज पर लागू होते हैं। एगेल्स का कहना है कि आरभ मे मातृसत्तात्मक समाजव्यवस्था थी, पर उसका स्थान पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने ले लिया 'मातृसत्ता का विनाश नारीजाति की विश्व ऐतिहासिक महत्व की पराजय थी। अब घर के अदर भी पुरुष ने अपना आधिपत्य जमा लिया। नारी पदच्युत कर दी गई। वह पुरुष की वासना की दासी, सतान उत्पन्न करने का एक यत्र मात्र बनकर रह गई।'[17] बहुपत्नीवाद तथा नारी के प्रति भोगी-विलासी दृष्टि इसी से जुडी हुई है और भारतीय मध्यकाल इसका सबूत है। इसीलिए सतकवि नारी को माया मानकर उससे बचने की सलाह बार बार देते हैं। राम-कृष्णभक्त कवि नारी की कुछ आदर्श ऊचाइया प्रस्तुत करते हुए काल्पनिक जगत बनाते हैं—तुलसी की मा जानकी या कृष्ण कवियो मे परमगोपीभाव की प्रतीक राधा। राम एकपत्नीव्रत का पालन करते हैं पर कृष्ण के लिए भी समाधान खोज लिया जाता है कि यह उनकी लीला है, वे असग हैं और एक झटके मे गोकुल की रसभूमि छोडकर चल देते हैं, पर राधा, रुक्मिणी, सत्यभामा तथा पच पटरानी विवाह[18] आदि का स्पष्टीकरण क्या होगा ?

भक्तिकाव्य पर जो सामाजिक दबाव है उन्हे वह नकार नही सकता, यद्यपि अपनी नैतिक बनावट के कारण राम-कृष्णकाव्य भयावह यथार्थ के कुछ सकेत भर देता है—पूरा प्रमाणीकरण नही हो पाता—विवरण, वृत्तांत नही आ पाते। इसीलिए कई बार हम एक द्वद्व की स्थिति दिखाई देती है और उसे न समझ पाने के कारण हम दुहरे सरलीकरण मे फस जाते हैं—एक यथार्थ की तलाश मे निराश

होकर आक्षेप करने की प्रवृत्ति और दूसरी ओर उनकी आध्यात्मिकता को जिंदगी से काटकर देखने की कोशिश। हमें इन दोनों खतरों से बचना होगा, क्योंकि राम-कृष्णभक्ति काव्य सामाजिक दबावों की भूमि पर जन्मा है। पर वह इसके विरोध में भी खड़ा है, इसीलिए कई बार असमंजस की स्थिति भी। देवता पूज्य हो सकते हैं पर रामकाव्य में वे समाजधीन हैं, क्योंकि राम को पृथ्वी पर उतार दिया, जूझने-मरने के लिए और वे प्रसूनवर्षा करके संतुष्ट हैं। हर निर्णायक क्षण में वे उपस्थित हैं, क्योंकि उनकी दिलचस्पी राक्षसों के वध में है। तुलसी मौका निकालकर उनकी स्वार्थदृष्टि पर फबती कसते हैं—धीरे से। अयोध्याकाड का आरंभ है 'सकल कहहिं कब होइहि काली। बिघन मनावहिं देव कुचाली।'[19] चित्रकूट की सभा का दृश्य है कि राम भरत से कहते हैं जैसा कहो वैसा ही करें 'मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।' और इंद्र तथा देवता अपने स्वार्थ की बात सोचते हैं 'सोचहिं चाहत होन अकाजू' क्योंकि कहीं भरतप्रेम में राम अयोध्या न लौट जाएं। इसलिए वे सब राम के पास जाते हैं, फिर लगि लगि कान कहहिं धुनि माथा। अब सुर काज भरत के हाथा।'[20] अंत में बृहस्पति उन्हें समझाते हैं। कवियों के पूरे साक्षात्कार के लिए हम भक्तिकालीन रचना को बाहर-भीतर पकड़ना होगा—सामाजिक संदर्भों की सही पहचान और उसका प्रक्षेपण तथा नए मूल्यों की तलाश। इन कवियों में अनेक प्रसंग हैं जहां मध्यकाल को ललकारा गया है और रचना में एक द्वंद्व की स्थिति है। फलित ज्योतिष बार बार इनमें आया है, ज्योतिषीजी आ जाते हैं, कुडली भी तैयार है, पर वनमार्ग में जाते हुए वनवासी राम को देखकर ग्रामजन ज्योतिष के खोखलेपन पर भी टिप्पणी करते हैं

> पथिक अनेक मिलहिं मग जाता। कहहिं सप्रेम देखि दोउ भ्राता॥
> राज लखन सब अंग तुम्हारें। देखि सोचु अति हृदय हमारें॥
> मारग चलहु पयादेहि पाएं। ज्योतिषु झूठ हमारें भाएं॥
> अगम पंथु गिरि कानन भारी। तेहि महं साथ नारि सुकुमारी॥[21]

कृष्णकाव्य में लोक उपादानों की बहुलता के बावजूद कृष्ण इंद्र को ललकारते हैं और धरती देवता के पूजन पर बल देते हैं, वास्तविकता का आरंभिक संस्पर्श। राम-कृष्णकाव्य की सही जमीन पाने के लिए हमें अतिवादों से बचना होगा और उन स्थलों पर दृष्टि डालनी होगी जो अब तक अछूते रहे हैं। कृष्णकाव्य में लोक-जीवन की शब्दराशि और भी अधिक प्रवेश पा सकी है, क्योंकि आराध्य कृष्ण के पूजन-अर्चन में 'नित्यसेवा' को स्वीकारा गया है। दधि, माखन के असंख्य चित्रों के अतिरिक्त नाना व्यंजनों का उल्लेख यहां हुआ है, साथ ही ब्रज की जीवनचर्या इसमें झलकती है। इन सबके आधार पर हम कह सकते हैं कि राम-कृष्णकाव्य जीवनसंपृक्ति से उपजा है, यद्यपि कई बार ऐसा लगता है कि दृष्टि पनामी हो गई है, प्राय अच्छा अच्छा देखती है, पर यथार्थ के प्रसंगों में ये कवि मध्यकालीन

स्यनीयता को खोलते हैं, ढकने की कोशिश नही करते।

भक्तिकाव्य के इतिहास मे राम-कृष्णकाव्य ने तुलसी, सूर तथा कुछ अन्य श्रेष्ठ कवि हमे दिए और उनकी साहित्यिक ऊचाइया हमारे सामने हैं। उन्होने एक नया भावजगत निर्मित करते हुए पुष्ट वैचारिक आधार दिए और उसे जीवन से सबद्ध किया। सतो ने देसी भाषाओ मे जो सभावनाए जगाई थी, उनका सर्वोत्तम उपयोग किया और विशेष रूप से ब्रज तथा अवधी अपनी पूर्णता पर पहुची। रामकाव्य मे विष्णुदास, ईश्वरदास, अग्रदास आदि तथा कृष्णकाव्य मे अष्टछापियो के अतिरिक्त रहीम, रसखान जैसे मुसलमान कवियो ने भक्ति मे हिस्सा लेकर उसकी साप्रदायिक चौहद्दी को तोडा और मिली-जुली सस्कृति मे हस्ताक्षर किए। इन कवियो का रचना जगत इसलिए विशेष आकर्षण का केंद्र रहा है कि एक ओर भक्ति के माध्यम से वे जनसामान्य मे प्रवेश कर गए, दूसरी ओर वे पडित समीक्षको को आज भी ललकारते है। उनकी प्रासगिकता की तलाश स्वय प्रमाण है कि वे जीवत सर्जनशीलता के प्रतीक हैं और उनके जीवनसदर्भ उनकी शक्ति हैं। टूटते हुए समाज और बिखरते परिवार के प्रति उनकी चिंता उन्हे कुछ मर्यादाए बनाने पर बाध्य करती है और उन्हे भरत का चरित्र विशेष रूप से आकर्षित करता है। नारी समस्या का वे आदर्शवादी निदान तलाशते हैं—सीता के अनिद्य चरित्र मे, पर अग्निपरीक्षा का औचित्य भी ठहराना चाहते हैं जिसे बहुत जायज नही कहा जा सकता। इन सीमाओ के बावजूद उन्होने आचार्यों की सस्कृत परपरा के स्थान पर देसी भाषाओ के माध्यम से सामान्यजन को एक वैकल्पिक चरितनायक देना चाहा[22] और भक्तिचेतना को जीव नधार से जोडा, जो क्रम गुरुनानक (1469-1538 ई०) तक चलता रहता है और थोडा आगे भी। प्रो० डी० पी० मुखर्जी का कथन सही है कि सास्कृतिक 'पैटर्न' की मूलभूत एकता को नकारने से इतिहास मे बडी भूलें हो सकती हैं[23] और भक्तिकाव्य के अध्ययन मे इसे ध्यान मे रखना चाहिए क्योकि वह सास्कृतिक मेल-जोल की उपज है।

भक्तिकाव्य मे राम-कृष्णधारा का सामाजिक-सास्कृतिक प्रदेय अनेक रूपो मे विवेचित किया जाता है और उसे सपूर्ण भक्तिचेतना मे सबद्ध करके देखना चाहिए। सतो ने दोटूक भाषा मे समाज की जर्जर मान्यताओ को चुनौती दी और जनता मे अपनी सहजता के कारण वे लोकप्रिय हुए, पर अधिकाश की नकारात्मक दृष्टि तथा मूर्तिभजक मुद्रा के कारण—राह के सही होते हुए भी, उसे पूर्ण गति नही मिल सकी। हम मानते हैं कि इसमे उन सवर्णों आदि का भी रोल हो सकता है, जो इसके लिए तैयार न थे। राम-कृष्णभक्त कवियों ने एक प्रकार का मध्यमार्ग तलाशा—परपरा के कुछ तत्व स्वीकारे, सामाजिक यथार्थ को भी सामने रखा, नए जीवनमूल्यो को खोजते हुए उनकी कतिपय मर्यादाए निश्चित की और राम, कृष्ण को मानवीय भूमि पर उतारते हुए, अधिकाश

चिंतन को उन्ही के माध्यम से प्रक्षेपित किया। देवों का मानवीकरण होने से समाज मे उन्हे सहज स्वीकृति मिली और मध्यकाल मे एक नया परिवेश जन्माने मे इन भक्तकवियो की अहम भूमिका को नकारा नही जा सकता। हम स्वीकारते हैं कि कतिपय नैतिक आग्रहो के कारण उनकी सीमाए बन गई और आदर्शवादी दृष्टि के कारण प्रश्नो का यथार्थपरक समाधान उसके पास नही है। उनका आक्रमण भी शाकाहारी किस्म का है। मध्यकालीन समाज के अतर्विरोध कई बार रचनाओ मे भी प्रविष्ट हुए हैं, जैसे ब्राह्मणसम्मान का आग्रह, पर निम्न जातियो को राम, कृष्ण के माध्यम से मुक्तिमार्ग तक पहुचाना। भक्तिकाव्य मध्यकालीन जागरण की सक्रियता को अभिव्यक्ति देने वाला उन्मेष है और राम-कृष्णकाव्य के माध्यम से उसकी सर्वोत्तम सर्जनशीलता उजागर हुई है। यदि उसकी सामाजिक-सास्कृतिक चेतना सगठित हो सकती और उसके समवेत स्वर की यात्रा लबी हो पाती तो जो मानवीय परिवेश उसने जन्माया था वह और भी गतिशील रहता। पर अपने समय की सीमाओ मे भी, उसका व्यक्तित्व मध्यकालीन सास्कृतिक मेल-जोल को अपने ढग से प्रक्षेपित करता है और सामाजिक-सास्कृतिक चेतना के बनाने मे उसकी महत्वपूर्ण हिस्सेदारी है। मध्यकालीन इतिहास, समाज-वृत्त को समझने मे भी वह हमारी सहायता करता है और उसके जो अश यथार्थ की खुरदरी जमीन से टकराते हैं तथा वे मूल्य जो कवियो ने विकल्प रूप मे खोजे हैं, हमे उस काव्य के सर्वोत्तम हस्ताक्षरो की प्रासगिकता तलाशने के लिए उकसाते हैं।

सदर्भ

1 राधाकमल मुकर्जी . 'दि कल्चर ऐंड आर्ट आफ इंडिया', पृ० 334
2 'रामचरितमानस', बालकाड, दोहा 229
3. वही, 230/4.
4 वही, 236 से पूर्व
5 वही, 258/259/1
6. मार्क्स-एगेल्स : 'सकलित रचनाए', भाग 1, पृ० 261
7. वही, लकाकाड, 86/5
8 'दोहावली', दोहा 508
9 वही, दोहा 507
10 रामविलास शर्मा · 'भाषा और समाज', पृ० 295
11 'रामचरितमानस', बालकांड, दोहा 286
12 वही, 296/2.

प्रेमशंकर

काशी विश्वविद्यालय तथा सागर विश्व-विद्यालय मे शिक्षा. लखनऊ क्रिश्चियन कालेज से शिक्षक जीवन का आरंभ. 1956 से आजतक सागर विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग से सबद्ध. संप्रति प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष. सभी प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं मे नियमित लेखन.

चर्चित कृतिया :
'प्रसाद का काव्य', 'कामायनी का रचना-ससार', 'हिंदी स्वच्छदतावादी काव्य', 'भक्ति-चिंतन की भूमिका', 'रामकाव्य और तुलसी', 'कृष्णकाव्य और सूर', 'भक्तिकाव्य की भूमिका'.